विवेक ज्योति

वर्ष ५० अंक ६
जून २०१२

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक ६

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३, २५०

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वर्ष ५० जून २०१२ अंक ६

पुरखों की थाती

आदौ अन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ।
वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।।६७।।

– वेद, रामायण, पुराण एवं महाभारत के आदि-मध्य तथा अन्त में – सर्वत्र ही भगवान की महिमा गायी गयी है अर्थात् भगवान का महिमा-कीर्तन ही इन सारे शास्त्रों का उद्देश्य है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युपक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः ।।६८।।

– ऐसे ऋषि-मुनिगण, जो संसार के सारे विषयों को छोड़कर आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं, जो वेद आदि ग्रन्थों के भी परे जा चुके हैं, वे भी भगवान की अहैतुकी – निष्काम भक्ति किया करते हैं, क्योंकि भगवान के गुण ही ऐसे हैं। (भाग.)

उत्पन्नम् आपदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान् ।।६९।।

– जो आई हुई विपत्ति का तत्काल समाधान कर लेता है, उसी को बुद्धिमान कहते हैं।

उद्धरेद्-आत्मनाऽऽत्मानं न आत्मानम्-अवसादयेत ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ।।७०।।

– व्यक्ति को स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिये, स्वयं को पतन के मार्ग पर नहीं ले जाना चाहिये; (क्योंकि) व्यक्ति स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु। (गीता)

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत् ।।७१।।

– भाग्य उसी व्यक्ति का सहायक है, जिस में उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति तथा पराक्रम – ये छह गुण विद्यमान हैं।

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।७२।।

– जैसे कि सोते हुये सिंह के मुख में मृग स्वयं ही नहीं घुस जाते, वैसे ही केवल संकल्प करते रहने मात्र से नहीं, बल्कि पुरुषार्थ से कार्य सिद्ध होते हैं। (हितोपदेश)

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ।।७३।।

– उद्योगी पुरुषरूपी सिंह को लक्ष्मी प्राप्त होती है। कायर लोग कहते हैं कि भाग्य में जो लिखा होगा, वही मिलेगा। इसलिये भाग्य को किनारे रखकर अपनी शक्ति भर पुरुषार्थ करो। इस तरह यत्न करने पर भी यदि कार्यसिद्धि न हो, तो फिर उसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। (हितोपदेश)

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनिनं कलहो नास्ति न भयं चास्ति जाग्रतः ।।७४।।

– उद्यम करते रहनेवाले को कभी गरीबी नहीं सताती, जप करते रहनेवाले को कभी पाप नहीं छूता, मौन रहनेवाले का किसी से झगड़ा नहीं होता और जागते हुए (सावधान) व्यक्ति को कभी भय नहीं लगता।

उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम् ।
सज्जनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः।।७५।।

– चन्द्रमा की शीतलता के समान सज्जनों का यह स्वभाव ही है कि वे परोपकार करते हैं, मधुर बोलते हैं और सहज-सच्चा प्रेम करते हैं।

उपकर्त्राऽरिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ।।७६।।

– उपकार करनेवाले शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिए। अपकार करनेवाले मित्र से नहीं। वास्तव में शत्रु-मित्र का लक्षण उपकार और अपकार ही है। ❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(तर्ज - ॐ जय जगदीश हरे)

(जय) रामकृष्ण भगवान, जय रामकृष्ण भगवान ।
महिमा-गान तुम्हारी, गावत सकल जहान ।। जय. ।।

खण्डन करने को भवबन्धन, आये तुम जग में,
ब्रह्म-तत्त्व दिखलाया, निज देखा सब में ।। जय. ।।

आयी संग में मातु सारदा, स्वामि विवेकानन्द,
सतयुग का अरुणोदय, हुआ जगत् स्वच्छन्द ।। जय. ।।

निर्धन-धनिक अज्ञ-पण्डित, दुर्जन या सज्जन हो,
शरणागत जो आता, अपनाते सब को ।। जय. ।।

तुम भक्तों के कल्पवृक्ष हो, चारों फल दाता,
तुमसे जो भी माँगे, सब 'विदेह' पाता ।। जय. ।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा–कहरवा)

ठाकुर, तुम हो प्राणाधार, भवसागर के तारणहार ।
आन विराजो हृदि शतदल पर, बन जाओ जीवन के सार ।।

सम्मुख प्रज्ञा-दीप जलाऊँ,
प्राण-पुष्प से तुम्हें सजाऊँ,
कण्ठ तुम्हारे पहनाऊँगा, मृदु भावों का शोभन हार ।।

जीवन-धन सर्वस्व तुम्हीं हो,
तुमसे विचलित चित न कभी हो,
शरणागत हूँ तव चरणों का, तन-मन-जीवन सब कुछ वार ।।

इस युग का अवसाद मिटाने,
प्रेमामृत-आस्वाद कराने,
आये हो तुम मर्त्यलोक में, लेकर रामकृष्ण अवतार ।।

अपनाओ इस दीन दास को,
करो संक्रमित निज हुलास को,
अब 'विदेह' पर भी दिखलाओ, अपनी करुणा अपरम्पार ।।

दैवी आदेश और धर्म-महासभा

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

शिकागो, २ अक्तूबर १८९३ – जब धर्म-महासभा आरम्भ होने ही जा रही थी, तो मैं अन्तिम क्षण में, और बिना किसी तैयारी के यहाँ पहुँचा ! इसी कारण मैं कुछ समय के लिए तो बड़ा व्यस्त रहा।... महासभा में मुझे प्राय: प्रतिदिन भाषण देना पड़ता था।... महासभा अब समाप्त हो गयी है। ...

विश्व के बड़े बड़े विचारकों और वक्ताओं की उस बड़ी सभा के सम्मुख मुझे पहले तो खड़े होने और बोलने में ही बड़ा डर लग रहा था। लेकिन ईश्वर ने मुझे शक्ति दी और मैंने प्रतिदिन साहसपूर्वक मंच और श्रोताओं का सामना किया। यदि सफल हुआ हूँ, तो उन्हीं की शक्ति से; और यदि मैं बुरी तरह असफल भी हुआ – इसका ज्ञान मुझे पहले से ही था – घोर अज्ञानी तो मैं था ही। ...

आपके मित्र प्रो. ब्रैडले तो मेरे प्रति बड़े कृपालु रहे और उन्होंने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया। लेकिन ओह ! सभी लोग मेरे जैसे नगण्य व्यक्ति के प्रति जो इतने कृपालु हैं, वह वर्णनातीत है। लेकिन श्रेय तो उस परम पिता को है, जिसकी दृष्टि में भारत का इस अकिंचन तथा अज्ञानी संन्यासी और इस महादेश के परम विद्वान् धर्माचार्यों में कोई भेद नहीं है। अहा, प्रभु किस प्रकार प्रतिदिन मेरी मदद कर रहा है ! भाई, कभी कभी तो मैं सोचता हूँ कि मुझे लाखों वर्षों की जिन्दगी मिल जाती और मैं मलिन वस्त्रों में लिपटा, भिक्षा पर निर्वाह करता हुआ कर्म के द्वारा उनकी सेवा करता रहता। ...

अब मैं यहाँ के जीवन के साथ समायोजन करने जा रहा हूँ। जीवन भर हर परिस्थिति को प्रभु से आती हुई मानकर मैं उसे शान्तिपूर्वक स्वीकार करते तदनुसार अपने को समायोजित करता रहा हूँ। अमेरिका में आकर मैंने स्वयं को जल के बाहर मछली जैसा अनुभव किया। मुझे आशंका थी कि कहीं मुझे परमात्मा द्वारा परिचालित चिर अभ्यस्त मार्ग छोड़कर अपनी चिन्ता का भार स्वयं न लेना पड़े। लेकिन यह कितना बीभत्स और कृतघ्नतापूर्ण विचार था ! अब मैं समझ रहा हूँ कि जिस ईश्वर ने मुझे हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों पर और भारत की तपती हुई भूमि पर पथ दिखलाया था, वही यहाँ भी मेरी सहायता कर रहा है। उस परम पिता की जय हो ! अत: मैं अब चुपचाप अपने पुराने रास्ते पर फिर चल रहा हूँ। कोई मुझे भोजन और आश्रय देता है; कोई मुझे उसके बारे में बोलने को कहता है और मैं जानता हूँ कि वे उसी के भेजे हैं; और मेरा काम है – बस, आज्ञा पालन करना। मेरी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति वही करते हैं। उसकी इच्छा पूर्ण हो !

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

– "जो मुझ पर आश्रित है और अपने सारे अभिमान तथा संघर्षों का परित्याग कर देता हैं, मैं उसकी सारी जरूरतों की पूर्ति करता हूँ।" (गीता, ९/२२)

ऐसा ही एशिया में है; ऐसा ही यूरोप में और ऐसा ही अमेरिका में भी है। ऐसा ही भारत की मरुभूमि में और ऐसा ही अमेरिका के व्यावसायिक कोलाहल में है; क्योंकि क्या वह यहाँ भी नहीं है? और यदि वह ऐसा न करे, तो मैं समझ लूँगा कि वह चाहता है कि मैं मिट्टी की इस तीन मिनट की काया को त्याग दूँ; और मैं इसे सहर्ष त्याग दूँगा।...

"जो अनेकत्व के इस जगत् में उस एक को प्राप्त कर लेता है – जो चंचल छायाओं के इस संसार में अगर कोई अचल सत्ता पा लेता है – मृत्यु के इस संसार में जो जीवन प्राप्त कर लेता है – मात्र वही यातना और कष्ट के इस सागर को पार करता है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं।" (वेद)

यं शैवा: समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो ।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव: कर्तेति नैयायिका: ।।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता: कर्मेति मीमांसका: ।
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरि: ।।

"जो वेदान्तियों का ब्रह्म, जो द्वैतवादियों का ईश्वर, जो सांख्य का पुरुष, जो मीमांसाशास्त्र का 'कारण', जो बौद्धों

का धर्म, जो नास्तिकों का 'शून्य' और जो प्रेमियों के लिए असीम प्रेम है, वही हम सबों को अपनी दयापूर्ण छत्रछाया में रक्षा करे।'' – महान् द्वैतवादी नैयायिक दार्शनिक उदयनाचार्य।[२५]

शिकागो, १० अक्तूबर १८९३ – अभी मैं शिकागो में भाषण दे रहा हूँ और मेरा विचार है, भाषण अच्छे चल रहे हैं। मुझे एक भाषण के तीस से अस्सी डालर तक मिल जाते हैं। और यहाँ की धर्म-महासभा ने शिकागो में मुफ्त ही मेरा इतना अधिक विज्ञापन कर दिया है कि तत्काल इस अंचल को छोड़ देना ठीक नहीं होगा।... कल मैं स्ट्रेटर से लौटा, वहाँ मुझे एक व्याख्यान के ८७ डालर प्राप्त हुए। इस सप्ताह मैं पूरी तौर से व्यस्त हूँ।[२६]

शिकागो, २६ अक्तूबर १८९३ – मैं यहाँ सकुशल हूँ और... सभी लोग मेरे प्रति अतिशय कृपालु हैं। दूर देशों से यहाँ आकर बसे लोगों की अपनी योजनाएँ, विचार तथा जीवन-व्रत हैं, जिन्हें वे पूरा करना चाहते हैं; और यह अमेरिका ही एक ऐसी जगह है, जहाँ हर कार्य में सफलता की सम्भावना है। परन्तु मैंने अपनी योजना पर भाषण देना बिल्कुल बन्द कर देना ही उचित समझा, क्योंकि मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि इस विधर्मी (मुझको) को अपनी योजना से कहीं अधिक प्राप्त हो रहा है। अत: मैं अपनी योजना को पृष्ठभूमि में ही रखकर, अन्य सभी वक्ताओं के समान काम करते हुए, अपनी योजना के लिये अध्यवसाय-पूर्वक कार्य करना चाहता हूँ।

जो मुझे यहाँ लाया है, और जिसने अब तक मेरा साथ नहीं छोड़ा है, जब तक मैं यहाँ रहूँगा, तब तक वह मेरा साथ कभी नहीं छोड़ेगा। आप यह जानकर खुश ही होंगे कि मैं अपने कार्य में बहुत सफलता प्राप्त कर रहा हूँ और जहाँ तक धन की बात है, तो उसमें और अधिक सफल होने की आशा है। यद्यपि इस तरह के व्यवसाय में मैं एकदम अनुभवहीन हूँ, तो भी शीघ्र ही सीख जाऊँगा। शिकागो में तो मैं बहुत लोकप्रिय हूँ। इसलिए मैं कुछ दिन और यहीं ठहरना और धन-संग्रह करना चाहता हूँ। कल मैं महिलाओं के पाक्षिक क्लब में बौद्धधर्म पर बोलूँगा। शहर में यह सर्वाधिक प्रभावशाली क्लब है।... अब मुझे अपनी योजना की सफलता की सम्भावना दीख रही है।[२७]

शिकागो, २ नवम्बर १८९३ – प्रभु की प्रेरणा से मुझे बहुत से मित्र मिल गये। बोस्टन के निकट एक गाँव में हार्वर्ड विश्वविद्यालय के यूनानी भाषा के प्रोफेसर डॉ. राइट से मेरी जान-पहचान हो गयी। उन्होंने मेरे प्रति बड़ी सहानुभूति दिखायी और इस बात पर जोर दिया कि मैं धर्म-महासभा में अवश्य जाऊँ, क्योंकि उनके मतानुसार इससे मेरा पूरे अमेरिका से परिचय हो जायेगा। चूँकि वहाँ किसी से मेरी जान-पहचान न थी इसलिए प्रोफेसर साहब ने मेरे लिए सारी व्यवस्था करने का भार अपने ऊपर लिया और उसके बाद मैं फिर शिकागो आ गया। यहाँ एक सज्जन के मकान में, धर्म-महासभा में आये हुए पूर्वी और पश्चिमी देशों के प्रतिनिधियों के साथ मेरे ठहरने की व्यवस्था हो गयी है।

महासभा के उद्घाटन के दिन सुबह हम लोग 'आर्ट पैलेस' नामक एक भवन में एकत्र हुए, जहाँ सभा के अधिवेशनों के लिए एक बड़ा और कुछ छोटे-छोटे हॉल अस्थायी रूप से निर्मित किये गये थे। वहाँ सभी राष्ट्रों के लोग थे। भारत से ब्राह्म-समाज के प्रतापचन्द्र मजूमदार थे, बम्बई से नगरकर, जैनधर्म के प्रतिनिधि वीरचन्द गाँधी थे, थियोसॉफी के प्रतिनिधि श्रीमती एनी बेसेंट तथा चक्रवर्ती थे। इन सबमें मजूमदार मेरे पुराने मित्र थे और चक्रवर्ती मेरे नाम से परिचित थे। शानदार जुलूस के बाद हम सभी लोग मंच पर बैठाये गये। कल्पना करो, नीचे एक बड़ा हॉल और ऊपर एक बहुत बड़ी गैलरी, दोनों में छह-सात हजार स्त्री-पुरुष जो इस देश की सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के प्रतिनिधि हैं, खचाखच भरे हैं तथा मंच पर संसार की सभी जातियों के बड़े-बड़े विद्वान् एकत्र हैं; और मुझे, जिसने अब तक कभी किसी सार्वजनिक सभा में भाषण नहीं दिया, इस विराट् जन-समुदाय के समक्ष भाषण देना होगा!

उसका उद्घाटन संगीत और भाषणों के साथ बड़े समारोह -पूर्वक सम्पन्न हुआ। तदुपरान्त आये हुए प्रतिनिधियों का एक-एक करके परिचय दिया गया और वे सामने आ-आकर अपना भाषण देने लगे। नि:सन्देह मेरा हृदय धड़क रहा था, जिह्वा प्राय: सूख गयी थी। मैं इतना घबड़ाया हुआ था कि सबेरे बोलने की हिम्मत न हुई। मजूमदार की वक्तृता सुन्दर रही! चक्रवर्ती की तो उससे भी सुन्दर! दोनों के भाषणों के दौरान खूब तालियाँ बजीं। वे सभी अपने-अपने भाषण तैयार करके आये थे। मैं अबोध था और बिना किसी प्रकार की तैयारी के गया था। किन्तु मैं देवी सरस्वती को प्रणाम करके सामने आया और डॉक्टर बैरोज ने मेरा परिचय दिया। मैंने एक छोटा-सा भाषण दिया। ''अमेरिकावासी बहनो और भाइयो!'' – कहकर मैंने सभा को सम्बोधित किया, और इसके बाद ही दो मिनट तक ऐसी घोर करतल-ध्वनि हुई कि कान में अँगुली देते ही बनी। फिर मैंने आरम्भ किया; और जब अपना भाषण समाप्त कर बैठा, तो भावावेग से मैं मानो अवश हो गया था। अगले दिन सभी समाचार-पत्रों में छपा कि मेरी ही वक्तृता उस दिन सबसे अधिक सफल हुई थी। पूरा अमेरिका मुझे जान गया। महान् टीकाकार श्रीधर ने ठीक ही कहा है – **मूकं करोति वाचालम्** अर्थात् जिनकी कृपा मूक को भी धाराप्रवाह वक्ता बना देती है, वे प्रभु धन्य हैं! उस दिन से मैं विख्यात हो गया और जिस दिन मैंने अपना 'हिन्दू -धर्म पर निबन्ध' पढ़ा, उस दिन तो हॉल में इतनी अधिक

भीड़ थी, जितनी पहले कभी नहीं हुई थी। एक समाचार-पत्र का कुछ अंश उद्धृत करता हूँ – "केवल महिलाएँ-ही-महिलाएँ, कोने-कोने में, जहाँ देखो वहीं, ठसाठस भरी हुई दिखायी देती थीं। अन्य सब वक्तृताओं के समाप्त होने तक वे किसी प्रकार धैर्य रखकर विवेकानन्द की वक्तृता की बाट जोहती रहीं" – आदि, आदि। तुम्हारे पास यदि मैं समाचार-पत्रों की कतरनें भेजूँ, तो तुम आश्चर्यचकित रह जाओगे। परन्तु तुम जानते ही हो कि मैं नाम-यश से घृणा करता हूँ। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब कभी मैं मंच पर आया, तो बहरा कर देनेवाली तालियों की आवाज के साथ मेरा स्वागत किया गया। प्राय: सभी पत्रों ने मेरी प्रशंसा के पुल बाँधे और उनमें जो बड़े कट्टर थे, उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा कि 'यह मनुष्य अपनी सुन्दर आकृति, आकर्षक व्यक्तित्व तथा आश्चर्यजनक वक्तृत्व के कारण सम्मेलन में सबसे प्रमुख व्यक्ति है' आदि, आदि। तुम्हारे लिये इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि इसके पूर्व किसी प्राच्य व्यक्ति ने अमेरिकी समाज पर कभी इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला था।

अमेरिकावासियों की दया का बखान मैं कैसे करूँ? मुझे अब किसी वस्तु का अभाव नहीं। मैं मजे में हूँ। यूरोप जाने के लिए आवश्यक धन मुझे यहाँ से मिल जायेगा। ...

मुझे अब कुछ भी अभाव नहीं रहा। शहर के कई सर्वोत्तम घरों में मेरा प्रवेश हो गया है। मैं सदैव किसी-न-किसी का अतिथि होकर रहता हूँ। ...

प्रतिदिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभु मेरे साथ हैं और मैं उनके आदेशानुसार चल रहा हूँ। उनकी इच्छा पूर्ण हो। ... हम लोग संसार के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य करेंगे और वह सब कुछ नाम अथवा यश के लिए नहीं – नि:स्वार्थ भाव से किया जायेगा। ...

बहुत-सा विचार थोड़े शब्दों में व्यक्त करना एक महती कला है। यहाँ तक कि मणिलाल द्विवेदी के लेख में भी बहुत काट-छाँट करनी पड़ी। एक हजार से अधिक निबन्ध पढ़े गये थे और ऐसा व्यर्थ का वाग्जाल सुनने के लिए समय न था। सबके लिए सामान्यत: जो आधे घण्टे का समय निश्चित था, मुझे उससे भी अधिक समय मिला था, क्योंकि सर्वप्रिय वक्ता आखिर में बोलने के लिए रखे जाते थे, ताकि श्रोतृमण्डली प्रतीक्षा में बैठी रहे। प्रभु उनका कल्याण करें; क्या गजब की सहानुभूति और क्या गजब का धैर्य है उनमें! वे लोग सुबह दस बजे से लेकर रात के दस बजे तक बैठे रहते थे। बीच में भोजन के लिए केवल आधे घण्टे का अवकाश मिलता था। एक-एक करके सभी प्रबन्ध पढ़े गये। उनमें से अधिकांश बहुत ही साधारण थे, पर लोग अपने प्रिय वक्ताओं के लिए धैर्यपूर्वक बाट जोहते रहे।

श्रीलंका के धर्मपाल ऐसे ही प्रिय वक्ताओं में से थे, पर दुर्भाग्यवश वे सुवक्ता नहीं थे। श्रोताओं के समक्ष कहने को उनके पास मैक्समूलर तथा राइस डेविड्स की कुछ उक्तियाँ मात्र ही थीं, किन्तु वे बड़े ही मधुर स्वभाव के हैं। महासभा की बैठकों के दिनों में हमारे बीच खूब घनिष्ठता हो गयी।...

व्याख्यान देना इस देश में एक बड़ा लाभजनक व्यवसाय है और कभी-कभी उससे आय भी बहुत होती है। श्री इंगरसोल को प्रति व्याख्यान पाँच सौ से लेकर छह सौ डालर तक मिलते हैं। वे इस देश के बड़े प्रसिद्ध वक्ता हैं।[२८]

धर्म-महासभा में अभिभाषण

अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो,

आपने जिस सौहार्द तथा स्नेह के साथ हम लोगों का स्वागत किया है, उसके लिये आभार प्रकट करने हेतु खड़े होते समय मेरा हृदय अवर्णनीय हर्ष से परिपूर्ण हो रहा है। मैं आपको संसार में संन्यासियों की सबसे प्राचीन परम्परा की ओर से धन्यवाद देता हूँ, गौतम बुद्ध जिसके एक सदस्य थे; धर्मों की उस माता की ओर से मैं आपको धन्यवाद देता हूँ, बौद्ध तथा जैन धर्म जिसकी शाखाएँ मात्र हैं; और अन्तत: मैं सभी जातियों तथा मतों के कोटि-कोटि हिन्दुओं की ओर से भी आपको धन्यवाद देता हूँ। इस मंच पर उपस्थित उन कुछ वक्ताओं को भी मैं धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने आपको बताया है कि दूर-दूर के देशों से आये हुए ये लोग इस सभा में दृश्यमान सहिष्णुता के भाव को उन विभिन्न देशों को ले जायेंगे। इस विचार के लिये मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का बोध करता हूँ, जिसने संसार को सहनशीलता तथा सार्वभौम स्वीकृति – दोनों की ही शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहनशीलता में ही विश्वास नहीं करते, अपितु सभी धर्मों को सच्चा मानते हैं। मुझे आपको यह बताते हुए गर्व का बोध होता है कि मेरे धर्म की पवित्र संस्कृत भाषा में exclusion शब्द का अनुवाद ही नहीं हो सकता। मुझे एक ऐसे देश का निवासी होने का गर्व है, जिसने पृथ्वी के समस्त धर्मों तथा राष्ट्रों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है। मुझे आपको यह बतलाते हुए गर्व होता है कि हमने अपने सीने में यहूदियों के विशुद्धतम अवशिष्ट अंश को स्थान दिया था, जिन्होंने उसी वर्ष दक्षिण भारत में आकर शरण ली थी, जिस वर्ष उनका पवित्र मन्दिर रोमन अत्याचार से धराशायी हो गया था। मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूँ, जिसने महान् पारसी राष्ट्र के अवशिष्ट अंश को शरण दी और जिसका पालन वह अब भी कर रहा है।

भाइयो, मैं आप लोगों को एक स्तोत्र की कुछ पंक्तियाँ सुनाता हूँ, जिसे प्रत्येक हिन्दू बालक प्रतिदिन दुहाराता है।

इस स्तोत्र की आवृत्ति मैं अपने बचपन से करता रहा हूँ और भारत के करोड़ों लोग इसकी प्रतिदिन आवृत्ति किया करते हैं। मुझे लगता है कि अब इसके भाव को कार्य रूप में परिणत करने का समय आ गया है –

रुचीनां वैचित्र्याद्-ऋजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

– "जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो ! भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जानेवाले लोग अन्त में जाकर तुम्हीं में मिल जाते हैं।"[२९]

मैं यहाँ पर अपने निर्धन देशवासियों के लिये सहायता माँगने आया था, परन्तु मैं पूरी तौर से समझ गया हूँ कि ईसाई-धर्मावलम्बियों से, विशेषकर उन्हीं के देश में, मूर्तिपूजकों के लिए सहायता प्राप्त करना कितना कठिन है ![३०]

मुझे अपने बचपन की एक बात याद आती है। एक ईसाई पादरी कुछ मनुष्यों की भीड़ जमा करके धर्मोपदेश कर रहा था। कई मीठी बातों के साथ वह पादरी बोला, "यदि मैं तुम्हारे भगवान की मूर्ति को एक डण्डा लगाऊँ, तो वह मेरा क्या कर लेगी?" एक श्रोता ने चट चुभता-सा उत्तर दिया, "यदि मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दूँ, तो वह मेरा क्या बिगाड़ लेगा?" पादरी बोला, "मरने के बाद वह तुम्हें सजा देगा।" हिन्दू भी तनकर बोल उठा, "वैसे ही हमारा भगवान भी तुम्हारे मरने पर तुम्हें सजा देगा।"

फलों से वृक्ष के गुण-दोषों की परीक्षा होती है। जब मैं मूर्तिपूजक कहे जानेवाले लोगों में ऐसे लोगों को पाता हूँ, जो नैतिकता, आध्यात्मिकता तथा प्रेम में अपनी सानी नहीं रखते, तब मैं रुक जाता हूँ और स्वयं से यही पूछता हूँ – "क्या पाप से भी पवित्रता की उत्पत्ति हो सकती है?"[३१]

मैं एक संन्यासी हूँ, जिसका भिक्षुक-तुल्य कहकर परिचय दिया गया है। मुझे इस जीवन पर गर्व है। इस दृष्टि से मैं ईसा के समान होने में गर्व का अनुभव करता हूँ। आज मुझे जो भी मिल जाता है, उसे खा लेता हूँ और कल के बारे में नहीं सोचता। "मैदान के लिली-फूलों की ओर देखो, वे न मेहनत-मजदूरी करते हैं और न सूत ही कातते हैं।" (ईसा की) इस वाणी को हिन्दू शब्दश: आचरण में लाता है। पिछले बारह वर्षों से मैं यह नहीं जानता था कि मेरा अगला भोजन कहाँ से जुटेगा – इस मंच पर विराजमान तथा शिकागो के कई सज्जन इस बात का साक्ष्य देंगे। मैं ईश्वर के नाम पर भिक्षुक होने पर गर्व का अनुभव करता हूँ।[३२]

इस देश में, शिकागो में अपने प्रथम व्याख्यान में मैंने श्रोताओं को "अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो" – कहकर सम्बोधित किया था और आप जानते हैं कि इस पर वे सभी लोग उठकर खड़े हो गये थे। आप लोगों को शायद आश्चर्य हो रहा होगा कि उन लोगों ने ऐसा क्यों किया, आप लोगों ने शायद सोचा हो कि मेरे अन्दर कोई विचित्र शक्ति होगी। मैं आप लोगों को बताना चाहूँगा कि मेरे अन्दर एक शक्ति है और वह यह कि मैंने अपने जीवन में कभी एक बार भी यौन-विषयक विचार को प्रश्रय नहीं दिया है। मैंने अपने मन को, चिन्तन को प्रशिक्षित किया और जिन शक्तियों को व्यक्ति उस दिशा में प्रेरित करता है, उन्हें मैंने एक उच्चतर दिशा में उन्नीत किया; और यह एक ऐसी प्रबल शक्ति में विकसित हुआ, जिसे कोई भी रोक नहीं सकता।[३३]

मैं धर्म-महासभा में बोला था और उसका जो परिणाम हुआ, वह मैं अपने पास के कुछ समाचार-पत्रों से उद्धृत करता हूँ। मैं डींग नहीं हाँकना चाहता, परन्तु आपके प्रेम के कारण, आपमें विश्वास करके मैं इतना अवश्य कहूँगा कि अब तक किसी हिन्दू ने अमेरिका को ऐसा प्रभावित नहीं किया; और मेरे आने से यदि अन्य कुछ भी न हुआ हो, तो इतना अवश्य हुआ है कि अमेरिकियों को यह मालूम हो गया कि भारत में आज भी ऐसे मनुष्य पैदा हो रहे हैं, जिनके चरणों में सभ्य-से-सभ्य राष्ट्र भी नीति और धर्म का पाठ पढ़ सकते हैं। क्या आप नहीं समझते कि हिन्दू राष्ट्र को अपने संन्यासी यहाँ भेजने के लिए इतना कारण ही पर्याप्त है?

कुछ समाचार-पत्रों के अंश मैं नीचे उद्धृत करता हूँ – "अधिकांश संक्षिप्त भाषण वाग्मितापूर्ण थे, तथापि किसी ने भी धर्म-महासभा के तात्पर्य तथा उसकी सीमाओं का इतने अच्छे ढंग से वर्णन नहीं किया, जैसा कि उस हिन्दू संन्यासी ने। मैं उनका भाषण पूरा-का-पूरा उद्धृत करता हूँ, परन्तु श्रोताओं पर उसका क्या प्रभाव पड़ा, इसके विषय में मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वे 'दैवी अधिकार से सम्पन्न वक्ता' हैं और उनका शक्तिमान तेजस्वी मुख तथा उनके पीले गेरुए वस्त्र, उनके गम्भीर एवं लयबद्ध वाक्यों से कुछ कम आकर्षक न थे।" (यहाँ भाषण को विस्तारपूर्वक उद्धृत किया गया है) – न्यूयार्क क्रिटिक

"उन्होंने गिरजाघरों और क्लबों में इतनी बार व्याख्यान दिये हैं कि अब हम भी उनके धर्म से परिचित हो गये हैं।... उनकी संस्कृति, उनकी वाक्पटुता, उनके आकर्षक तथा अद्भुत व्यक्तित्व ने हमें हिन्दू सभ्यता का एक नया आलोक दिया है। ... उनके सुन्दर तेजस्वी मुखमण्डल तथा उनकी गम्भीर सुललित वाणी ने सबको अनायास ही अपने वश में कर लिया है। बिना किसी प्रकार के नोट्स की सहायता के ही वे भाषण देते हैं, अपने तथ्य तथा निष्कर्ष को वे अपूर्व ढंग से तथा आन्तरिकता के साथ सम्मुख रखते हैं और उनकी स्वत:स्फूर्त प्रेरणा – उनके भाषण को कभी-कभी अपूर्व वाक्पटुता से युक्त कर देती है।" – वही।

"धर्म-महासभा में विवेकानन्द निश्चय ही महानतम व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनने के बाद ऐसा लगता है कि इस ज्ञानी राष्ट्र को धर्मोपदेशक भेजना कितनी मूर्खता है।" – हेराल्ड (यहाँ का सबसे बड़ा समाचार-पत्र)

इतना उद्धृत करके अब मैं समाप्त करता हूँ, नहीं तो आप मुझे घमण्डी समझ बैठेंगे। ...

मैं जैसा भारत में था, वैसा ही यहाँ भी हूँ। केवल यहाँ – इस उन्नत सभ्य देश में गुणग्राहकता है, सहानुभूति है, जो हमारे अशिक्षित मूर्ख लोग स्वप्न में भी नहीं सोच सकते। वहाँ हमारे देशवासी हम साधुओं को रोटी का टुकड़ा भी बड़बड़ाते हुए देते हैं, यहाँ एक व्याख्यान के लिए ये लोग हजार रुपये तक देने को और उस शिक्षा के लिए सदा कृतज्ञ रहने को तैयार हैं।

वे विदेशी लोग मेरा इतना आदर करते हैं, जितना कि भारत में आज तक कभी नहीं हुआ। यदि मैं चाहूँ, तो अपना सारा जीवन सर्वोच्च विलासिता में बिता सकता हूँ, परन्तु मैं संन्यासी हूँ, और "हे भारत, तुम्हारे अवगुणों के होते हुए भी मैं तुमसे प्यार करता हूँ।" इसलिए कुछ महीनों बाद मैं भारत लौटूँगा और – जो लोग न कृतज्ञता का अर्थ जानते है, न गुणों का आदर ही कर सकते हैं, उन्हीं के बीच – नगर-नगर में धर्म का बीज बोता हुआ प्रचार करूँगा, जैसा कि मैं पहले किया करता था।...

अब इन उद्धृत अंशों को पढ़ने के बाद क्या आप सोचते हैं कि संन्यासियों को अमेरिका भेजना उचित नहीं है?

कृपया इन्हें प्रकाशित न करें। मुझे अपना नाम करवाने से वैसी ही घृणा है, जैसी भारत में थी।

मैं यहाँ ईश्वर का कार्य कर रहा हूँ और वे मुझे जहाँ भी ले जायेंगे, वहाँ जाऊँगा। **मूकं करोति वाचालम्** – आदि; जिनकी कृपा से गूँगा निपुण वक्ता बन जाता है और लँगड़ा पहाड़ लाँघ जाता है, वे ही मेरी सहायता करेंगे। मानवी सहायता की मैं परवाह नहीं करता; यदि ईश्वर उचित समझेंगे, तो वे भारत में, अमेरिका में या उत्तरी ध्रुव-स्थान में भी मेरी सहायता करेंगे। यदि वे सहायता न करें, तो कोई भी नहीं कर सकता। परमात्मा की सदा-सर्वदा जय हो।[३४]

अन्य धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म की बड़ाई दिखाने के उद्देश्य से ही धर्म-महासभा आयोजित की गयी थी, परन्तु इसके बावजूद तत्त्वज्ञान से पुष्ट हिन्दुओं का धर्म अपनी स्थिति को बनाये रखने में सफल हुआ।[३५]

धर्म-महासभा इस विचार से की गयी थी कि संसार के सामने गैर-ईसाइयों का तमाशा बनाया जाय, परन्तु वहाँ हुआ यह कि बाजी गैर-ईसाइयों के हाथ ही रही और हर तरह से ईसाइयों का ही तमाशा बना। इसलिए ईसाइयों के दृष्टिकोण से वह सफल नहीं हुई। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जो रोमन कैथोलिक उस महासभा के संगठनकर्ता थे, वे ही अब पेरिस में प्रस्तावित दूसरी महासभा के आयोजन का दृढ़तापूर्वक विरोध कर रहे हैं। परन्तु शिकागो की महासभा भारत और भारतीय विचारों के लिए अत्यन्त महान् सफलता थी। वह वेदान्त के प्रवाह में सहायक हुई, जो अब संसार भर को आप्लावित कर रही है। कट्टर पादरियों और चर्च-नारियों को छोड़कर बाकी अमेरिका के लोग निश्चय ही महासभा के परिणामों से बहुत प्रसन्न हैं।[३६]

शिकागो का वह विश्व-मेला कितनी अद्भुत घटना थी! और साथ ही वह अद्भुत धर्म-महासभा भी, जिसमें पृथ्वी के सभी देशों के लोगों ने एकत्र होकर अपने-अपने विचार व्यक्त कियो! डॉ. बैरोज तथा श्री बॉनी के अनुग्रह से मुझे भी अपने विचारों को सबके समक्ष रखने का अवसर प्राप्त हुआ। श्री बॉनी कितने अद्भुत व्यक्ति हैं! जरा उनकी कल्पनाशक्ति के बारे में सोचो, जिन्होंने इतने विशाल आयोजन की कल्पना की और उसे सफलतापूर्वक रूपायित किया! उल्लेखनीय बात यह है कि वे कोई पादरी नहीं थे; एक साधारण वकील होकर भी उन्होंने समस्त धर्म-सम्प्रदायों के परिचालकों का नेतृत्व ग्रहण किया था। उनका स्वभाव अत्यन्त मधुर है और वे एक विद्वान् तथा धीर व्यक्ति हैं – उनकी हृदयस्थ भावनाओं का प्रकाश उनके उज्ज्वल नेत्रों से ही होता था![३७]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

२५. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड १, पृ. ४०९-१२; **२६.** वही, खण्ड २, पृ. ३०७; **२७.** वही, खण्ड २, पृ. ३०७-०८; **२८.** वही, खण्ड २, पृ. ३०८-१३; **२९.** वही, खण्ड १, पृ. ३; **३०.** वही, खण्ड १, पृ. २२; **३१.** वही, खण्ड १, पृ. १६; **३२.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ४३३; **३३.** Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, Vol 6, P. 155; **३४.** विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड ३, पृ. ३२६-२८; **३५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३६८; **३६.** वही, खण्ड ४, पृ. २५१; **३७.** वही, खण्ड २, पृ. ३१९
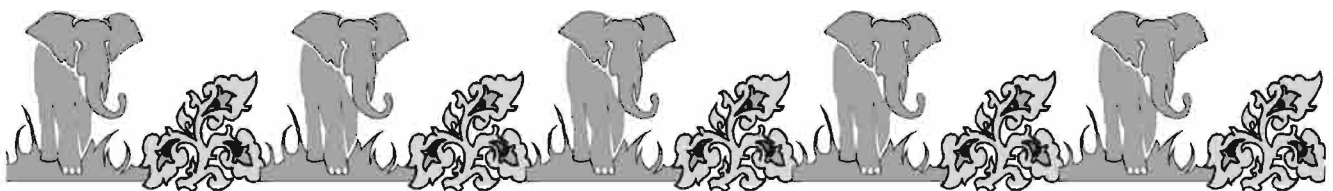
चुगलखोरी का दोष

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

उस दिन मैं अपने मित्र के यहाँ बैठा हुआ था। वे एक उच्च पदस्थ अधिकारी हैं। उनके पास एक सज्जन आये। मैं उनसे परिचित नहीं था। मित्र ने परिचय करा दिया। वार्तालाप के सिलसिले में आगन्तुक ने कहा, "अमुक तो आप पर बड़ा नाराज हो रहा था, क्या बात है?" मित्र उत्तर में बोले, "भला वे मुझ पर क्यों नाराज होंगे? नाराजगी का तो कारण नहीं होना चाहिए।" आगन्तुक बोले, "वे कह रहे थे कि देखो तो, मैंने एक छोटा सा काम उन्हें दिया, वह भी वे नहीं कर सके।"

मित्र ने पूछा, "आपसे उन्होंने यह बात कब कही?"

"अभी कुछ देर पहले ही। उनसे मिलकर ही तो यहाँ आ रहा हूँ" – आगन्तुक का उत्तर था।

मित्र बोले, "यह भला कैसी बात है? मैंने परसों ही उनका काम कर दिया था और शासकीय आदेश स्वयं उनके हाथ दे आया था। मैं फोन करके अभी पूछे लेता हूँ कि बात क्या है।"

आगन्तुक का चेहरा देखने लायक था। मित्र फोन करने गये और आगन्तुक तुरन्त उठकर चलते बने। फोन करके लौटकर मित्र ने बताया कि आगन्तुक बड़ा झूठा था, जिसका नाम लेकर उसने चुगली की उसके यहाँ वह कई दिनों से गया ही नहीं है। मित्र को फोन पर यह भी बताया गया कि आगन्तुक बड़ा ही चुगलखोर है और उससे सावधान रहना चाहिए।

यह एक उदाहरण है। ऐसे कितने उदाहरण आपके और हमारे जीवन में भरे पड़े होंगे। चुगली एक रोग है, मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि है। इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति को तोड़ने में सुख का अनुभव होता है। उसे दो व्यक्तियों का आपसी प्रेम और सद्भाव आँख की किरकिरी मालूम होती है।

चुगली मिथ्या के घोड़े पर चढ़कर कलाबाजी करती है। मनुष्य इस कदर आत्म-प्रशंसा-प्रिय होता है कि तनिक-सा कटाक्ष का स्वर, आलोचना की धीमी-सी फुहार भी आहत कर देती है। मैं यदि लेखक हूँ, तो अपने लेख की प्रशंसा सुनना चाहता हूँ। यदि कवि हूँ, तो मेरे कान कविता का गुणगान सुनने में ही लगे रहेंगे। यदि वक्ता हूँ, तो सदा यही चाहूँगा कि लोग मेरे भाषण की प्रशंसा करें। यदि कलाकार हूँ तो अपनी कला की बड़ाई सुनने की ओर ही मेरा ध्यान रहेगा। व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में कार्यरत हो, वह अपने कार्य की, कार्य करने के तरीके की प्रशंसा सुनना चाहेगा। यह कोई अस्वाभाविक वृत्ति नहीं है। मनुष्य का मन ही ऐसा बना है कि वह आत्मप्रशंसा सुनना चाहता है। चुगली की प्रक्रिया मनुष्य-मन के इसी स्वभाव को लेकर खेलती है और अपना प्रभाव विस्तार करती है। मनुष्य अपनी कमियों की सही आलोचना भी सुनना नहीं चाहता – उसका यह स्वभाव चुगली के पौधे में पानी सींचने का काम करता है, और यही चुगलखोर की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति के जोर पर चुगलखोर हमारे मन को मानो अपने वश में कर लेता है और जैसा वह चाहता है वैसा देखने को हमें विवश करता है। फलस्वरूप हम उसकी बातों में आ जाते हैं और सत्य की पूरी तरह उपेक्षा करते हुए अपने निर्दोष मित्र से कटकर अलग हो जाते हैं। परिवार के स्तर पर, परिवार को तोड़नेवाली सबसे खतरनाक ताकत चुगली की ही है। ननद चुगली के बल पर भौजाई को उसकी सास से तोड़ देती है। पत्नी इसी के चलते पति को उसकी माँ से अलग कर देती है। बाप और बेटे एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। भाई-भाई एक-दूसरे का सिर फोड़ने पर उतारू हो जाते हैं।

तो, क्या इस रोग की दवा नहीं है? है – और वह रामबाण दवा है। जैसे आयुर्वेद में औषध और उसका अनुपान होता है और दोनों मिलकर ही रोग पर कारगर होते हैं, वैसे ही यह रामबाण दवा अपने अनुपान के साथ ही काम करती है।

दवा है – जिस व्यक्ति के बारे में चुगली की गयी, उससे बिना संकोच के पूछना कि क्या उसने ऐसा कुछ कहा है। और अनुपान यह है कि चुगली करने वाले के सामने ही पूछा जाय। आप अनुभव करेंगे कि रोग एक बार ही जड़ से मिट गया है।

एक दूसरी दवा से भी चुगली का दंश मिटाया जा सकता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से किसी ने चुगली करते हुए कहा, "महाशय, अमुक तो आपकी बड़ी निन्दा कर रहा था।" विद्यासागर बोले, "पर भाई मुझे तो ख्याल नहीं आता कि मैंने उसका कुछ भला किया हो, फिर वह मुझे क्यों गालियाँ देता है?" चुगली करने वाला बगलें झाँकने लगा, उससे कोई उत्तर देते न बना।

यह भी चुगली की एक अनुभूत कारगर दवा है। ❑❑❑

साधना, शरणागति और कृपा (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. के दौरान सम्पन्न हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

'लीला' शब्द के पीछे जो संकेत हैं, उसका पूरा तात्पर्य किसी दृष्टान्त के द्वारा व्यक्त नहीं होता। जैसे एक अभिनेता विभिन्न नाटकों में स्वयं को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट करता है – यदि वह हास्य का अभिनय कर रहा है, तो हँसी का रूप; यदि करुणा की भूमिका है, तो करुणा का और यदि वीर का अभिनय है, तो वीरता का। उससे दर्शक प्रभावित होते हैं। दर्शक भी कई प्रकार के होते हैं – कुछ लोग हास्यप्रिय होते हैं, फिर कुछ करुणाप्रिय और कुछ वीरताप्रिय होते हैं। जब वे अपने अभिनेता को उस रूप में देखते हैं, तो उससे विशेष प्रभावित होते हैं और उनके बड़े प्रशंसक हो जाते हैं। 'लीला' में भी यही सूत्र है। निर्गुण-निराकार ईश्वर के 'लीला-तनु' का अर्थ है कि वे अभिनय के लिए, भक्त की भावना को सन्तुष्ट करने हेतु अपने लीला-शरीर को प्रकट करते हैं, परन्तु स्वयं वही नहीं हो जाते –

जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ ।।७/७२

जैसा करना चाहिए, वैसा ही अच्छा नाटक करते हैं। जब तुलसीदास जैसा कोई भक्त यदि कहता है कि आप धनुष -बाण लेकर दर्शन दे दीजिए, तो धनुष-बाण ले लेते हैं। कोई कहता है कि धनुष-बाण छोड़कर जरा बंशी ले लीजिए, तो बंशी ले लेते हैं। कभी राम बन जाते हैं, कभी कृष्ण बन जाते हैं, तो कभी शिव बन जाते हैं। इस अभिनय-मंच पर भगवान हमें अनगिनत अवतारों के रूप में दिखाई देते हैं। उनकी मधुर लीला को पढ़ना-सुनना और रसास्वादन करना – इसका भी एक आनन्द है। उनकी विशेषता यह है कि उनसे आप जैसा बनने के लिए कहिए, वैसे ही बन जाएँगे। भक्तों के बीच व्यंग्यात्मक संवाद होता है। किसी ने पूछा – श्रीराम अधिक दयालु हैं या श्रीकृष्ण? बोले – दोनों को पुकारो; जो अधिक दयालु होगा, पहले आ जायगा। रामभक्त ने पुकारा, "महाराजाधिराज श्रीरामभद्र, कृपा करके पधारो !" नहीं दिखाई पड़े। कृष्णभक्त ने पुकारा, "हे गोपाल, हे कन्हैया, आओ।" इस पर कृष्ण सामने आ गये। कृष्ण-भक्त बड़ा प्रसन्न हुआ। बोला, "देखो, सिद्ध हो गया कि कृष्ण अधिक दयालु हैं, पहले आ गये !" रामभक्त को हेठी लगी। थोड़ी देर बाद दीख पड़ा कि बड़े बाजे बज रहे हैं, रथ आ रहा है। भगवान राम रथ से उतरे और भक्त को हृदय से लगाया। भक्त बोला, "महाराज, आना ही था, तो जरा और जल्दी आ जाते। मुझे आपने हरवा दिया !" भगवान बोले, "गोपाल गायें चरा रहे थे; उसने पुकारा, तो दौड़कर चले आए। तुमने महाराजाधिराज को पुकारा। तो राजा को आने में थोड़ी तैयारी तो लगती ही है। तुम यदि बनवासी राम को पुकारते, तो जल्दी आ जाता।" इसीलिए लंका में सीताजी दूलह श्रीराम का ध्यान नहीं करतीं, राजाराम का भी नहीं। वे उस रूप का ध्यान करती हैं, जिसमें वे कपट-मृग के पीछे दौड़ चले थे –

जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम ।। ३/२९

दौड़ते हुए राम का, क्योंकि दूल्हे तो बहुत धीरे-धीरे चलते हैं। सीताजी चाहती हैं कि इस संकट से उद्धार करने के लिए वे यथाशीघ्र से आ जायँ। जब उन्हें मायामृग के पीछे भागने में संकोच नहीं है, तो वे मेरे पीछे यहाँ तक आने का कष्ट क्यों नहीं करेंगे ! भक्तों की भक्ति-भावना की प्रकृति भिन्न-भिन्न है और वे जैसा आनन्द लेना चाहते हैं, भगवान उनके सामने वैसा ही नाटक कर देते हैं। पर आप श्रीराम से पूछिए – आप ही सबसे बड़े हैं क्या? कहेंगे – बिल्कुल। श्रीकृष्ण से पूछिए, वे भी कहेंगे – अवश्य। किसी ने एक अभिनेता को नाटक में देखा और कहा, आप कितने अच्छे, कितने महान् हैं ! दूसरे नाटक में दूसरे से कहा – इसमें आप बड़े महान् हैं। अभिनेता सबमें 'हाँ-हाँ' करता है, पर किसी भी भूमिका के साथ उसका तादात्म्य नहीं हो जाता। वह मन -ही-मन जानता है कि मैं तो इनकी प्रसन्नता के लिए करता हूँ। वे जिस रूप में दर्शन करना चाहेंगे, मैं उस रूप में दर्शन दूँगा। इनकी भावना के अनुकूल कार्य करूँगा, लीला करूँगा।

भक्त जब भगवान को सगुण-साकार रूप में देखने की इच्छा करता है, तो वह उन्हें अपने अन्त:करण की सीमाओं में व्यक्त रूप में देखना चाहता है। इसके पीछे धारणा यह है कि अव्यक्त रूप में इतने निकट होते हुए भी वे दूर प्रतीत होते हैं। इसीलिए कौशल्या अम्बा के गर्भ से जन्म हुआ, भगवान ने अपना रूप प्रगट किया, तब वे सोचने लगी – जिस ब्रह्म के रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, वह मेरे

गर्भ में दस महीने कैसे रहा होगा?

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया
रोम रोम प्रति बेद कहै ।
मम उर सो बासी यह उपहासी
सुनत धीर मति थिर न रहै ।। १/१९२/३

जब तक लीला चल रही है, तब तक उसका आनन्द लेते हुए, बस उसके एक सीमा में बँधे हुए मानने की भूल न करें और इसीलिये जन्म के समय एक-देश के भ्रम निवारण के लिये, या पूजा में एक-देश के भ्रम का निवारण करने के लिये वे विराट् का दर्शन कराते हैं। आप पढ़ते हैं कि श्रीराम का जब जन्म हुआ, तो सूर्य एक महीना रुका रह गया –

मास दिवस कर दिवस भा
मरम न जानइ कोइ ।। १/१९४

एक वैज्ञानिक कहेगा कि यह कैसे सम्भव है? सूर्य तो प्रकृति के अन्तर्गत है, प्रकृति के नियमों के द्वारा संचालित है, वैज्ञानिक पंचाग देखकर घोषणा करेगा कि कल सूर्योदय कितने बजे होगा और सूर्य वह नियम मानने को बाध्य है। पर यहाँ पर महीने भर का दिन होने के पीछे आध्यात्मिक तत्त्व यह है कि वस्तुत: जो कालातीत है, उसे काल में देखना हमारी सीमा है। हमको एक दिन जन्मोत्सव मनाना है, तो हम साल भर में, एक महीने – चैत्र में शुक्लपक्ष के नवमी तिथि में उसे मनाएँ। दिल्ली में कथा रामनवमी के दिन समाप्त होती है। एक सज्जन बोले – रामनवमी तो कल है, आज आपकी कथा कैसे समाप्त हो गई। पंचाग में रामनवमी की दो तिथियाँ थी। एक कहता – रामनवमी आज है, दूसरा कहता – कल है। मैंने कहा कि सनातन-धर्मी हिन्दुओं में यही तो समस्या है। इतनी-सी बात में एक मत नहीं हो पाते – मिलकर कम-से-कम इतना तो कह पाते कि आज रामनवमी है। मैं बोला, ''आपको चिन्ता नहीं करनी होगी। जब श्रीराम का जन्म हुआ, तो सूर्य एक महीने तक आकाश में टिका रहा, अत: रामनवमी तो तीसों दिन हो सकती है। आप व्यर्थ ही परेशान हो रहे हैं।''

रामनवमी – काल का एक सापेक्ष शब्द है। भगवान बताना चाहते हैं कि वे देश में आकर भी देश से अतीत हैं, काल में आकर भी काल से अतीत हैं। प्रकृति के अन्तर्गत वे नहीं हैं। प्रकृति स्वयं उनसे संचालित है। यही बारम्बार सर्वत्र दिखाने की चेष्टा की गई। हनुमानजी सारी लंका को जला देते हैं, पर विभीषण का घर बच जाता है। यह प्रकृति के नियम के अनुकूल नहीं है। प्रकृति का नियम जब वहाँ दिखाई नहीं देता। इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति के अपने नियम हैं और उन्हें जान लेने से हमें बड़ी क्षमताएँ प्राप्त होती हैं। पर भगवान के सन्दर्भ में, प्रकृति से पार होने का कोई नियम नहीं है – यहाँ नियम का अर्थ है साधन। साधन नियमपूर्वक किया जाता है और ऐसा होना भी चाहिए, परन्तु भगवान स्वयं नियम से परे हैं। इसलिए बार-बार बता दिया गया कि आप नियम से साधन कीजिए, पर आप इस भ्रम से अभिमानी मत बन जाइए कि मैंने इतने दिनों से इतने नियमों का पालन किया, अत: आज हमको यह उपलब्धि हुई है। कुछ साधकों को ऐसा भ्रम हो जाता है। कई लोग पूछते हैं कि कितनी संख्या में जप करने पर दर्शन होता है? इसका उत्तर यदि किसी महापुरुष ने लिखा भी हो, तो उनका जैसा अनुभव हुआ, वैसा लिख दिया। कई लोग उलाहना लेकर आते हैं कि उन्होंने तो ऐसा लिखा है और मैंने इतने दिन किया, पर कुछ नहीं हुआ। क्या उन्होंने गलत लिखा है? इसका उत्तर यह है कि यदि भगवान स्वयं किसी नियम के अधीन होता, तो कोई महापुरुष बता देते कि वह इस नियम के अन्तर्गत बँधा हुआ है, वह इस नियम से मिलेगा। परन्तु प्रकृति की शक्ति प्रगट होती है नियम से और ईश्वर के लिए कहा गया – वे सबमें रहकर भी सबसे अलिप्त हैं –

अग जगमय सब रहित बिरागी ।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ।। १/१८५/७

वह नियम से परे है, अतीत है और इसीलिए जान-बूझ कर कौतुक करता है। क्या कौतुक करता है? नियम पालन करनेवाले को देखकर बड़ा प्रसन्न होता है।

अब मनु के प्रसंग में – इतनी साधना के बाद जब शरीर में अस्थिमात्र शेष रह गया, तो भी भगवान ने दर्शन नहीं दिया। मानो भगवान उन्हें बता देना चाहते हैं कि तुम दुबले हो गये हो, हड्डियाँ दिखाई देने लग गई है, पर यह कोई मुझे प्रभावित करने वाली वस्तु नहीं है ! हम लोग बहुधा ऐसे भ्रम में पड़ जाते हैं, ''हम इतना कर रहे हैं, इतना पुकार रहे हैं, तो क्या भगवान देख-सुन नहीं रहे हैं?'' आप ऐसा क्या कर रहे हैं जो देखने योग्य हो? वस्तुत: इस भ्रम को पालने की जरूरत नहीं है। पर ध्यान रहे, यह सब सुनकर आप नियमों का पालन मत छोड़िएगा। साधना मत छोड़िएगा। इसका अर्थ यह नहीं कि साधना व्यर्थ है, नियम व्यर्थ है, पर ईश्वर इस बात को भी सामने ला देना चाहता है कि उसको पाने का कोई नियम नहीं है। इसीलिये सम्भव है कि किसी को घर में ही मिल जाय और किसी को वन में मिले। कुछ ठीक नहीं कि किसको कहाँ मिलेगा ! कभी राजमहल में जन्म ले लेगा, तो कभी कारागार में। कभी दिन में जन्म लेगा, तो कभी रात में। कभी नवमी को जन्म लेगा, तो कभी अष्टमी को। तो फिर वह कब आता है? श्रीराम की कथा में तो हम यही कहेंगे कि जब तक अन्त:करण में दिव्य दिन का उदय न हो, तब तक उसका जन्म नहीं होगा। श्रीकृष्ण की कथा कहेंगे, तो कहना पड़ेगा कि मध्यरात्रि में आता है। वह मध्य-रात्रि, मध्य-दिन, राजमहल, कारागार – कभी भी और कहीं भी आ

सकता है। यदि वह परम प्रेममयी गोपियों से प्रेम करता दिखाई देता है, तो कुब्जा को भी अंगीकार कर लेने वाला है। यह उसका विलक्षण खेल है। यही व्यक्ति के जीवन में साधना के अभिमान को मिटाने का उपाय है।

मनुजी की साधना में व्याकुलता काफी बढ़ गई, तब भी भगवान सामने नहीं आए। एक शब्द सुनाई पड़ा – तुम क्या चाहते हो? तुम्हारी क्या इच्छा है? अब इसमें एक तात्त्विक पक्ष यह हैं कि व्यक्ति जब संसार में आता है, तो उसका रूप पहले आता है और शब्द बाद में सुनाई देता है। पर मनु को शब्द पहले सुनाई दिया – शब्दब्रह्म पहले आया और रूपाकार ब्रह्म का दर्शन बाद में हुआ। मनु ने मंत्र का जप किया, व्याकुलता आई, तो उधर से भी ध्वनि आई। जैसे किसी पर्वत की घाटी में उच्चस्वर में किसी को पुकारें, तो वही प्रतिध्वनि के रूप में लौट आता है, वैसे ही यह व्यष्टि की ध्वनि थी, उसका प्रत्युत्तर समष्टि-ध्वनि के रूप में आया –

मागु मागु बरु भै नभ बानी।
परम गभीर कृपामृत सानी।। १/१४५/६

किसी ने गोस्वामीजी से कहा – इतनी साधना के बाद वे आये ! बोले – बिल्कुल नहीं, वे तो अपनी शुद्ध कृपा से ही आए, अन्य कोई कारण न था। पूछा – तुम क्या चाहते हो? मनु ने यह नहीं कहा – महाराज, मैंने इतने दिन उपवास किया, आदि आदि। कई लोग तो पूजा में भगवान को याद दिला देते हैं कि मैंने इतने दिन व्रत किए हैं, इसका भी ध्यान रखिएगा ! मनु भी याद दिला सकते थे – मैंने राज्य छोड़ा, वन में आया, फल, जल – सब छोड़ा, अपना शरीर सुखा दिया। पर प्रभु बड़े कौतुकी हैं, सामने आने से पहले मनु को उतना ही मोटा बना दिया, जितने वे घर में थे। मानो कहना चाहते हों कि बीच में क्या हुआ, हमें पता नहीं। मुझे तो लगा कि तुम अभी-अभी घर से आये हो। तुम जिसे लम्बा काल समझ रहे हो, वह कुछ नहीं है, तुम तो वैसे ही मोटे-के-मोटे हो। तुम दुबले कहाँ हुए? कहाँ तुम्हारी हड्डियाँ दिख रहीं हैं? यह उनका खेल है –

हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए।
मानहुँ अबहिं भवन ते आए।। १/१४५/८

उन्होंने माँगा, तो बड़ी विनम्रता के साथ – मैं तो अनाथ हूँ। कुछ न करने के बाद भी संसार के लोग मुझे नाथ-जैसा समझते थे। आप यदि प्रसन्न हैं, तो मुझे यह वर दीजिये –

जौं अनाथ हित हम पर नेहू।
तौ प्रसन होइ यह बर देहू।। १/१४६/३

– क्या वरदान चाहते हो? – दर्शन चाहता हूँ। – ब्रह्म तो निराकार है। वह ब्रह्मा-विष्णु और शंकर के रूप में तो आया था, पर उन रूपों में तो तुमने उसे स्वीकार नहीं किया। यदि तुम निराकार में रूप चाहते हो, तो अब तुम्हीं बताओ कि कैसा रूप चाहते हो? मनु बोले – हे शरणागत-वत्सल, मैं अपने नेत्रों को धन्य करने के लिए आपका दर्शन चाहता हूँ –

जो स्वरूप बस सिव मन माहीं।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं।।
जो भुसुंडि मन मानस हंसा।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन।। १/१४६/४-६

तब सहसा उनके सामने प्रगट हो गये। अभी तक जो आए थे, वे अपने-अपने लोकों से आए थे, इसीलिये इतना विलम्ब लग गया। आजकल गणित से भी बता दिया जाता है कि कहाँ से कितनी देर में प्रकाश आता है। पर प्रकृति का गणित बड़ा अनोखा है। भगवान को आने में इतने वर्ष लगे, अपने लोक से कितनी गति से चले होंगे कि इतनी देर बाद आए। लगता है कि अन्य लोगों का लोक निकट रहा होगा, इसलिए पहले आ गए। जिनका लोक बहुत दूर रहा होगा, उन्हें देर लगती होगी। लोगों ने तो नक्शे भी बना रखे हैं कि किस लोक की कहाँ स्थिति है। एक सज्जन मेरे पास नक्शा बनाकर ले आए कि कहाँ स्वर्गलोक है, कहाँ ब्रह्मलोक है, कहाँ कैलाश है। उन्होंने दिखाया था कि पहले गोलोक है, फिर उसके ऊपर साकेतलोक है। दूसरे सज्जन ने दिखाया था कि साकेतलोक नीचे है और गोलोक ऊपर। पहले ने कहा – नहीं, गोलोक नीचे है, साकेत ऊपर। मैंने कहा – "यह सब तो आपको ही पता होगा। जब आप कह रहे हैं, तो आप वहाँ जाकर लौटे होंगे, तभी तो नक्शा बनाया होगा। मैं नहीं कह सकता कि यह नक्शा कहाँ तक ठीक है। भगवान कहाँ से आ गए? आप अपने भगवान को सबसे ऊपर बैठाइए, कोई आपत्ति नहीं, यह तो आपकी इच्छा की बात है, भावना की बात है। उनको आपके जहाँ बैठा देने से आपको आनन्द आता हो, वहाँ बैठा दीजिए। चाहे आप साकेतलोक को ऊपर कर दीजिए या गोलोक को, पर कृपा करके उसे भूगोल का सत्य न समझ लीजिएगा। यह भावना का विषय है, यह भावना का भूगोल है, प्रकृति का भूगोल नहीं है। इसलिये गोस्वामीजी ने बड़े सुन्दर शब्द का प्रयोग किया। भगवान कहाँ से आए? कितनी दूर चलकर आए और कितनी देर में आए? गोस्वामीजी ने एक वाक्य में कह दिया– किसी लोक परलोक से नहीं आए। – तब? बोले – वे तो वहीं थे। वे विश्व-वास हैं – सर्वव्यापी हैं। चार शब्दों में गोस्वामीजी ने हमें चार सूत्र दे दिये – भगवान, भक्तवत्सल, विश्व-वास (सर्वत्र निवास करनेवाला) और कृपानिधान –

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।
बिस्व बास प्रगटे भगवाना।। १/१४६/८

वे विश्ववास हैं, वे भगवान हैं, वे भक्तवत्सल हैं और वे

कृपानिधान हैं। रामायण में चार घाट हैं – ज्ञान, भक्ति, कर्म और शरणागति। सबको उत्तर दे दिया गया। धार्मिक से पूछा गया – भगवान क्यों आए? बोले – भगवान इसलिए आए कि वे नियम से परे होकर भी नियम का सम्मान करते हैं। भगवान समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी हैं, इसलिए जिन्होंने भगवान के लिए साधना की, उसके लिए आए। वेदान्ती से पूछा गया, तो बोले – उनके लिये आना जाना क्या, वे तो विश्ववास हैं; दिखाई नहीं दे रहे हैं, अब दिखाई देने लगे। भक्त ने कहा कि विश्ववास तो न जाने कब से हैं, भगवान तो न जाने कब से हैं, पर प्रगट क्यों नहीं हुए? तो अब इसलिए प्रगट हुए कि वे भक्तवत्सल हैं। भक्त मानो बछड़ा है। जैसे गाय के शरीर में दूध होते हुए भी जब तक बछड़ा न हो, तब तक दूध स्तनों में नहीं उतरता, इसी प्रकार से मनु के रूप में जब तक बछड़ा नहीं था, तब तक वह अव्यक्त था, अब प्रगट हो गया। इसलिए भक्त बछड़ा बनकर भगवान को प्रगट करता है। तुलसीदास जी तो शरणागति-मार्ग वाले हैं। क्योंकि भक्ति में भी कुछ साधना बताई जाती है –

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा ।। ३/३४/८

शरणागति-मार्ग वाले ने कहा – 'कृपानिधाना'। वे जब जिस पर कृपा करना चाहते हैं, चले आते हैं। चारों शब्द बड़े महत्त्व के हैं। भगवान मानकर साधना कीजिए, अथवा विश्ववास मानकर विचार कीजिये या भक्तवत्सल मानकर भावना को प्रगट कीजिये, या फिर शरणागत होकर उनकी कृपा प्राप्त कीजिये। कृपा का सिद्धान्त बड़ा ही विलक्षण है।

रामायण के पात्रों को लें – हनुमानजी पर कृपा करते हैं, तो कृपा का एक नियम लगता है, परन्तु जब सुग्रीव पर कृपा करते हैं, तो कौन-सा नियम रह गया? भगवान राम या भगवान कृष्ण के चरित्र में ऐसे अनेकों उदाहरण दिखते हैं। गोस्वामीजी चौराहे पर बैठे हुए थे। किसी ने पूछा – चौराहा भी कोई बैठने की जगह है क्या? यहाँ क्यों बैठे हुए हैं? किससे मिलना है? बोले – भगवान से। – तो बैठने से मिलेंगे क्या? उन्होंने कहा – मेरे सामने एक समस्या आ गई है। – क्या? – "मान लीजिये हमको किसी मित्र से मिलने जाना हो, हमारे मन में बेचैनी हुई। बैचेनी होने पर हम उनसे मिलने के लिये चल पड़े। मन में यह बात थी कि यदि वे भी हमसे मिलने निकले होंगे, तो हम दोनों बीच रास्ते में मिल जायेंगे और तब उन्हें हम अपने घर ले आएँगे। किसी से मिलने का यदि एक ही रास्ता हो, तब तो मैं चल पड़ू, परन्तु जहाँ कई रास्ते हों, तो पता नहीं वे किस रास्ते से आ जाएँ, इसलिए मैं चौराहे पर बैठ गया हूँ। अब वे चाहे जिस रास्ते से आयें, चौराहे पर तो आएँगे ही। इसलिए गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में कहते हैं – महाराज, मैं तो और कुछ नहीं कर रहा हूँ, केवल आपकी कृपा की राह देख रहा हूँ।

नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिनराति ।

रास्ता क्यों देख रहे हो, प्रयत्न क्यों नहीं करते? बोले – अपना नियम बता दीजिए कि आप किस मार्ग से आते हैं –

होई धौं केहि काल दीनदयालु, जानि न जाति ।।

आपका तो सब अलग-अलग, नियम का समर्थन भी करेंगे, तो कभी कुछ कह देंगे, कभी कुछ। जब कबन्ध से मिले तो कहा – मुझे तो तू ब्राह्मण-द्रोही लगता है।

सुन गंधर्व कहऊँ मैं तोही ।
मोहि न सुहाइ ब्रह्मकुल द्रोही ।। ३/३३/८

और यहाँ तक कह दिया – ब्राह्मण क्रोधी हो तो भी उसकी पूजा करनी चाहिए –

सापत ताड़त परुष कहंता ।
बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ।। ३/३४/१

आजकल तो तहलका मच जाता है। यह क्या कह रहे हैं तुलसीदास ! आप पढ़कर थोड़ा सोचने का कष्ट करें, जो लोग तुलसीदास को या श्रीराम को समझना चाहते हैं, उनके लिये यह सही पद्धति नहीं है। भगवान राम ने कबन्ध से यह कह दिया, तो ऐसा लगा कि बस ब्राह्मण की पूजा ही उनके लिए सब कुछ है। ब्राह्मण कैसा भी हो, बस, पूजा किए जाओ। पर आप भूल गये कि वही भगवान राम कबन्ध को मारने के बाद फिर कहाँ आए? शबरीजी के आश्रम में। कई लोग समझते हैं कि गोस्वामीजी स्त्री-विरोधी हैं। परन्तु शबरी स्त्री है; और ब्राह्मण नहीं, अपितु शबर जाति की एक भीलनी है। वन में निवास करती है। उसकी कोई जाति नहीं, कोई पंक्ति नहीं, कोई शिक्षा नहीं। भगवान जब शबरी के आश्रम में आए, तो उसने यही कहा – महाराज, मैं तो शास्त्र-वेद नहीं पढ़ी हूँ। वेद पढ़ी हुई होती, तो मैं आपकी स्तुति करती। परन्तु मैं पढ़ी नहीं हूँ, तो स्तुति कैसे करूँ? हाल ही में हमारे किसी शंकराचार्य ने स्त्रियों को वेद-पाठ करने से रोका है। अखबारों में चर्चा हुई, तो पत्रकार आ जाते हैं और मुझसे भी पूछ लेते हैं। मैंने कहा – भाई, इस विषय में हम क्या कह सकते हैं, आचार्यजी से ही पूछो !

शबरीजी ने आगे कहा – और जाति में भी मैं बिल्कुल नीची-से-नीची जाति की हूँ। भगवान राम बोले – तुम यह क्यों कह रही हो कि तुम पढ़ी-लिखी नहीं हो, तुमने वेद नहीं पढ़ा है। केवट ने भी भगवान से कहा था –

केवट को जात हौं सो वेद न पढ़ायौ हौं ।।

महाराज, मैं वेद पढ़कर नाव थोड़े ही चलाऊँगा। मुझे तो नाव चलाकर यह शिक्षा देनी है कि ये वेद की शिक्षा लेने वाले कभी उतने लाभ में नहीं रहे, जितना लाभ मुझे मिला। इसीलिए भगवान श्रीराम ने शबरी से कहा – यह तुम क्या कह रही हो, क्या होती है जाति, क्या होती है पंक्ति और कुल का या बुद्धिमता का मेरी दृष्टि में कोई महत्त्व है क्या?

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई ।
धन बल परिजन गुन चतुराई ।। ४/३५/५

बड़प्पन भी नहीं। धर्म का भी नाम ले लिया। धर्म भी नहीं – जाति का नाता नहीं, पंक्ति का नाता नहीं, कुल का नाता नहीं, धर्म का नाता नहीं, बुद्धिमता का नाता नहीं, चतुराई का नाता नहीं, है तो एकमात्र भक्ति का नाता –

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता ।
मानउँ एक भगति कर नाता ।। ४/३५/४
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोई ।
सर्व भाव भज कपट तजि मोहिपरम प्रिय सोई ।७/८७

ईश्वर ने यदि किसी से कुछ कहा, तो यह न समझ बैठियेगा कि वह सबके लिये कह रहा है। वह कभी किसी से एक रूप में कहेगा, कभी भिन्न रूप में। एक दृष्टान्त है – एक रोगी चिकित्सक के पास गया और बोला – मुझे नींद नहीं आती। चिकित्सक ने कहा – थोड़ा शारीरिक श्रम भी होना चाहिए, शरीर के थकने पर नींद अच्छी आती है, सुबह शाम दो-चार किलोमीटर पैदल चला करें। साथ ही गोली भी दे दी नींद की, खूब गहरी नींद सोइए। दूसरे रोगी को भी नींद नहीं आती थी। उसकी परीक्षा करके कहा – आप दो-चार दिन बिस्तर पर ही रहिए, पूर्ण विश्राम लीजिए, अधिक हलचल न करें, चलना फिरना बन्द रखें। दोनों रोगी एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। सोचने लगे – यह कैसा डॉक्टर है? पर डॉक्टर जानता है कि किसके लिए क्या करना हितकर है। यही बात व्यक्ति और समाज के सन्दर्भ में भी सही है। भगवान स्वयं जब किसी व्यक्ति का निर्माण करने के लिए उसके सामने कुछ कहते हैं, तो वह कोई सार्वभौम नियम नहीं होता, सार्वजनीन और सार्वकालिक नियम नहीं होता। इसलिए भक्तिशास्त्र में बताया गया है कि किसी की नकल करने की कोई आवश्यकता नहीं। दूसरे को देखकर हम भी वैसे ही बन जाएँ, तो हम भगवान को प्रिय लगेंगे, इस भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए। रामचरित-मानस में विविध पात्रों के माध्यम से पग-पग पर यह बात बताने की चेष्टा की गई है। हनुमानजी महाराज सन्त हैं और भगवान सन्तों के द्वारा मिलते हैं। हनुमानजी ने अनेक भक्तों को भगवान से मिलाया, पर सबको अलग-अलग तरह से मिलाया।

सुग्रीव पर्वत पर थे, तो उन्हें यह संकेत नहीं किया कि उतर आओ, स्वागत करो, दण्डवत करो। बोले – महाराज, पर्वत पर बन्दरों के राजा सुग्रीव रहते हैं, आप चलकर उनसे मित्रता कीजिए। – क्या सुग्रीव उतरकर इतनी दूर नहीं आ सकते? – नहीं, आप ही चलिए। और आप भी कष्ट मत कीजिए, मेरे कन्धे पर बैठ जाइए।

फिर लंका पहुँचकर भी हनुमानजी ने विभीषण से यह बिल्कुल नहीं कहा कि तुम यही रहो, मैं उन्हें लेकर आता हूँ। उन्होंने विभीषण से कहा कि तुम स्वयं उनकी शरण में जाओ, इसी में तुम्हारा कल्याण है। विभीषण को घर छोड़ कर, परिवार छोड़कर, नगर छोड़कर भगवान की शरण में जाना पड़ा। इधर वे सुग्रीव के पास स्वयं भगवान को ही ले आए – उन्हें घर मिलवाया, पत्नी मिलवायी, सब मिलवाया।

हनुमानजी मानो यह बताना चाहते हैं कि नियम बनाने वाला मैं नहीं हूँ। नियम तो केवल साधना में सुविधा के लिए बनाये जाते हैं। इसकी पराकाष्ठा तो तब हुई, जब लंका में एक अद्भुत दृश्य उपस्थित हुआ। जब हनुमान जी सुषेण वैद्य को लेने पहुँचे, तो वे सो रहे थे। हनुमानजी ने उनके पूरे घर को ही उठा लिया और भगवान के पास ले आए। पहुँचने पर जब पलंग कुछ हिला-डुला, तो वैद्यजी की नींद खुली, नेत्र खोलकर देखते हैं कि सामने भगवान बैठे हैं। किसी ने हनुमानजी से पूछा – महाराज, भगवान को पाने के लिए तो घर-परिवार-सम्पत्ति – सब छोड़कर स्वयं चलते हुए आना पड़ता है, जैसा कि विभीषण ने किया। आप जब विभीषण के पास गये, तो उसी समय वे जाग गये और आपने उन्हें भगवान के पास जाने का मार्ग बता दिया –

तेहीं समय बिभीषनु जागा ।। ५/६/२

आप सुषेण वैद्य को भी तो जगाकर कह सकते थे कि चलो, भगवान ने तुम्हें बुलाया है। आपने ऐसा क्यों नहीं किया? हनुमानजी का उत्तर बड़ा मधुर था। वे बोले, "जिसे भगवान को पाने की इच्छा हो, उसे सब कुछ छोड़कर भगवान के पास जाना चाहिए। परन्तु सुषेण की अपनी कोई इच्छा तो थी नहीं, प्रभु की ही सुषेण से मिलने की इच्छा हुई, तो मैंने सोचा कि जब प्रभु की ही इच्छा है, तो इसे घर-बार छोड़ने की क्या आवश्यकता है ! अत: मैं उसे घर सहित ही उठा लाया।" जो व्यक्ति लंका में रहता हो और रावण का वैद्य हो, जिसने लंका में रहते हुए भगवान को पाने की कभी कल्पना भी न की हो, उसे कृपा-मार्ग से मिला दिया। इसे भक्त लोग 'चोर-दरवाजा' कहा करते हैं।

भक्तगण भगवान के पास अलग-अलग साधन-मार्गों से आते दीख रहे हैं। पर कभी उनके अपने मन में कौतुक आता है, तो सुषेण वैद्य को बुला भेजते हैं। उन्हें वैद्य की क्या जरूरत थी? वे सर्वसमर्थ हैं। दूसरी बार जब लक्ष्मणजी को शक्ति लगी, तो लोगों को लगा कि पुन: वैद्य को बुलवाया जायगा, फिर हनुमानजी दवा लेने जाएँगे, परन्तु प्रभु ने कुछ नहीं किया। बस, केवल उनके कान में धीरे से कह दिया – लक्ष्मण, तुम तो स्वयं काल को खानेवाले हो –

तुम्ह कृतांत भच्छक सुर त्राता ।। ७/८४/६

कान में यह वाक्य कहते ही लक्ष्मण उठ बैठे। पहली बार भी प्रभु यही कह सकते थे, परन्तु इसके द्वारा प्रभु मानो साधना के इस गूढ़ रहस्य प्रगट को करते हैं कि परम

कृपामय प्रभु नियमों को स्वीकार करके उसके परे भी हैं –

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी ।। ७/७२/७

यदि वे नियमों से परे हैं और हम उन्हें पाना चाहते हैं, तो हमें जिन नियमों का ज्ञान है, हम उनका पालन करें। तात्पर्य यह कि किसी को क्या वस्तु पसन्द है, यह पता हो, तो उसका मनपसन्द भोजन बनवाइए और यदि पता न हो, तो आपको जो अच्छा लगता है और आपने जो बनाया है, उसी को परोस दीजिए। भगवान को क्या पसन्द है – यह पता लगाने की आवश्यकता नहीं। आपको जो अच्छा लगता है, वही भगवान को परोस दीजिए और कह दीजिये – हे प्रभो, हम नहीं जानते कि आपका क्या नियम है। भगवान को भोग लगाने में यही सुविधा है। जीवन में नियमों के पालन से जो सुपरिणाम दिखाई देते हैं। हम बालचेष्टा के समान नियमों का पालन करते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा जो कुछ होगा, वह उन्हीं की कृपा से होगा। गोस्वामीजी कहते हैं –

जब कब निज करुना-सुभावतें, द्रवहु तौ निस्तरिये ।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं, कत पचि-पचि मरिये ।।
(विनय-पत्रिका, १८६/६)

यही बात 'मानस' के कुछ भक्त-पात्रों के दृष्टान्त द्वारा बताने की चेष्टा की गई है। इनमें से जो पात्र हमें अपने जीवन के अनुकूल लगे, हम उसी के अनुसार चलने और अपना जीवन बनाने की चेष्टा करें। एक सज्जन बोले – ऐसा कुछ बता दीजिए कि हमें भी श्रीभरत-जैसा प्रभु से प्रेम हो जाय। हमने कहा – इसे बाद में सोचिएगा, पहले तो आप सुग्रीव-जैसा प्रेम कीजिए। भगवान ने तुलसीदास से पूछा – तुम मुझसे कैसा प्रेम करना चाहते हो? वे कह सकते थे कि भरतजी-जैसा। या जैसा कि लक्ष्मणजी या हनुमानजी करते हैं। पर बोले – नहीं, यह सब हम कैसे कहें? हम न भरतजी है, न लक्ष्मणजी और न हनुमानजी। – तब? बोले – जैसे कामी व्यक्ति को स्त्री प्रिय लगती है और लोभी को धन प्यारा लगता है, वैसे ही आप भी मुझे निरन्तर प्रिय लगिए –

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।। ७/१३०

इस सर्वांगीण रूप से महान् 'श्रीराम-चरित-मानस' ग्रन्थ में, भगवान श्रीरामकृष्ण के जीवन में या सन्तों के चरित्र में आपको साधनाओं के अनेक विविध रूप दिखाई देंगे, पर उन सबका सार-तत्त्व यही है कि साधन करना परम आवश्यक है, इसलिये हमें साधना के द्वारा अपने जीवन का निर्माण करना चाहिए अन्त:करण को पवित्र करना चाहिये। पर साथ ही, सब कुछ करते हुए भी साधना के अभिमान से, पुरुषार्थ के अभिमान से मुक्त होकर हमें इस तत्त्व को समझ लेना चाहिये कि प्रभु तो केवल अपनी कृपा से ही प्राप्त होते हैं। व्यक्ति जब इस सत्य को जान लेता है, तब उन पर निर्भर और निश्चिन्त हो जाता है। जैसे एक बच्चा कभी नहीं जानता कि माँ को रिझाने का क्या नियम है। परन्तु उसकी माँ अपने प्यार से ही उसको प्यार करती है। इस प्रकार जीवन में बाल्यावस्था से वृद्धावस्था की ओर जाया जाता है और भक्ति-साधना में वृद्धावस्था से बाल्यावस्था की ओर। यहाँ उन्नति का क्रम ही उल्टा है। इसलिए बहुत बढ़ाकर क्या कहें –

बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई ।। ७/४६/४

जब 'रामनवमी' का वह दिन एक महीने का दिन हो गया था, तो मान लीजिए कि आज दो घण्टे का एक घण्टा हो गया। आप लोगों के सान्निध्य में, यहाँ जो महानतम सेवाकार्य, महान सन्त, सर्वत्यागी संन्यासी, ब्रह्मचारी, महात्मा, सन्तों द्वारा हो रहा है, उसमें आप जो भी सहयोग कर सकें, वह हम लोगों के लिये बड़े सौभाग्य की बात है। 'श्रीराम-चरित-मानस' ग्रन्थ सर्वजनों के योग्य है। आप इसका पाठ कीजिए – पहले बिना-समझे, बाद में समझकर धारण कीजिए और यदि हम भ्रमित हुए बिना अपने जीवन में सही दिशा ढूँढ़ सके, तो हम धन्य हो सकते हैं। इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय है कि हम प्रभु से निरन्तर यही प्रार्थना करते रहें – प्रभो, हमारी बुद्धि तो बार-बार भ्रमित होती है, अब आप ही कृपा के द्वारा हमें धन्य करें, हमें सही दिशा में चलाने की कृपा करें। जब मैं इन महात्माओं को सामने बैठकर सुनते हुए देखता हूँ, तो मुझे भुशुण्डिजी की वह पंक्ति याद आ जाती है। अन्त में उन्होंने यही कहा था – मैं सबसे निकृष्ट और अपवित्र हूँ, तो भी प्रभु ने मुझको सारे जग को पवित्र करनेवाला कर दिया –

सकुनाधम सब भाँति अपावन।
प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जग पावन।। ७/१२३/८

उन्होंने बड़े उत्साह के साथ कहा – साधक, सिद्ध, जीवनमुक्त, विरक्त, कवि, विद्वान्, कर्मज्ञ, संन्यासी, योगी, शूर-वीर, तपस्वी, ज्ञानी, धर्म-परायण, पण्डित और विज्ञानी – इनमें से कोई भी जिनका भजन किए बिना नहीं तर सकता; उन्हीं श्रीराम को बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी ।
कबि कोबिद कृतग्य संन्यासी ।।
जोगी सूर सुतापस ग्यानी ।
धर्म निरत पंडित बिग्यानी ।।
तरहिं न बिनु सेएँ मम स्वामी ।
राम नमामि नमामि नमामी ।। ७/१२४/५-७

जिनका नाम जन्म-मृत्यु रूपी रोग की अचूक दवा और और त्रिविध तापों को हरने वाला है, वे कृपालु श्रीरामजी मुझ पर और आप सभी पर सदैव प्रसन्न रहें।

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल ।
सो कृपालु मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल ।। ७/१२४

❖ (समाप्त) ❖

क्षण भर का सत्संग

संकलित

एक नगर के एक मन्दिर में नित्य भागवत की कथा हुआ करती थी। उसे सुनने के लिये प्रतिदिन शाम को वहाँ बड़ी भीड़ एकत्र हो जाती। एक सेठजी प्रतिदिन शाम को अपने बेटे को दुकान पर बैठाकर कथा सुनने जाया करते थे। एक दिन जब वे कथा सुनने के लिये मन्दिर में गये हुए थे, उसी समय कुछ सौदा खरीदने के लिये एक ग्राहक आ पहुँचा।

उसने पूछा – तुम्हारे पिता कहाँ हैं?

वह बोला – कथा सुनने गये हैं।

ग्राहक बोला – हमको कुछ माल खरीदना है। तुम जल्दी जाकर अपने पिताजी को बुला लाओ।

लड़के ने मन्दिर में जाकर अपने पिता के कान में धीरे से कहा – दुकान पर एक आदमी सौदा खरीदने आया है, आपको बुला रहा है।

पिता ने कहा – जाकर उनसे कहो – अभी आते हैं।

लड़के ने आकर ग्राहक से बता दिया।

थोड़ी देर इन्तजार करने के बाद उसने फिर लड़के से कहा – अपने पिता को जल्दी बुला लाओ, नहीं तो हम किसी दूसरी दुकान में जाकर सौदा खरीद लेंगे।

लड़के ने जाकर पिता के कान में फिर कहा – पिताजी, वह ग्राहक ऊब रहा है, कहता है – बोलो कि जल्दी आकर सौदा दें, नहीं तो दूसरी जगह जाकर ले लूँगा।''

पिता ने कहा – हर रोज तो पण्डित थोड़ी-सी ही कथा कहता है, परन्तु आज कथा थोड़ी लम्बी खिंच गयी है। ठीक है, तुम चलो, मैं जल्दी ही आता हूँ।

लड़के ने लौटकर ग्राहक को फिर आश्वस्त किया।

तीसरी बार ग्राहक ने चेतावनी देते हुए लड़के से कहा – जाकर कहो कि यदि सेठजी को न आना हो, तो स्पष्ट जवाब दे दें। हम कहीं भी जाकर अपनी खरीदारी कर लेंगे।

लड़के ने जाकर बाप को कान में कहा – जल्दी चलो, नहीं तो अब वह जाने को बिल्कुल तैयार ही खड़ा है।

सेठजी ने पण्डित के बारे में दो-चार कटूक्तियाँ सुनाईं और कहा – तुम जाओ, मुझे भी बस आया ही समझो!

इस बार लड़के के मन में भी थोड़ी जिज्ञासा हुई और वह वहीं दो-तीन मिनट खड़ा रहकर कथा सुनता रह गया। भगवान कृष्ण उद्धव से कह रहे थे – हे उद्धव, सभी प्राणियों में आत्मा के रूप में मैं ही निवास करता हूँ। मेरे अतिरिक्त जगत् में कोई अन्य जीव नहीं है, इसलिये किसी भी प्राणी से विरोध न करो, शत्रुता का भाव मत करो।''

इतनी कथा सुनने के बाद लड़का लौटकर फिर अपनी दुकान में बैठ गया। तभी एक गाय आकर उसकी दुकान की बोरी में मुँह लगाकर अनाज खाने लगी। लड़का विचार करने लगा – जब इस गाय में और मुझमें एक ही आत्मा विद्यमान है, तो फिर हम किसको हटायें?

तभी उसका पिता भी कथा में से उठकर दुकान की ओर चल पड़ा। उसने दूर से ही देखा कि एक गाय उसकी दुकान का अनाज खा रही है और लड़का देखते हुए भी उसे भगा नहीं रहा है। वह दूर से ही गाय के प्रति अपशब्द बकने लगा और निकट आकर उसने गैया की पीठ पर एक लट्ठ जमाया। लाठी खाकर गाय तो भाग गयी, परन्तु उसका लड़का जोर से चिल्लाकर रोने लगा।

पिता ने कहा – मैंने तो गैया को लाठी मारी है, इस पर तुम क्यों चिल्ला रहे हो?

लड़का बोला – आज पण्डितजी कथा में बता रहे थे कि सभी प्राणियों में एक ही आत्मा का निवास है। मैं उसी बात पर विचार कर रहा था कि इस गाय की और मेरी आत्मा एक और अभेद है, तभी आपने लाठी मार दी, इसीलिये लाठी की चोट मुझे लगी और मैं चिल्ला उठा।

इतना कहने के बाद लड़के ने अपना कुर्ता उतारकर पिताजी को दिखाया – उसकी कमर पर लाठी के मार का निशान पड़ गया था।

पिता ने क्रोध में आकर कहा – अरे मूर्ख, वहाँ की कथा को वहीं पर छोड़ दिया जाता है। तुम्हारे समान कोई उसे गाँठ बाँधकर घर थोड़े ही लाता है!

पुत्र ने कहा – जो हुआ, तो हुआ। अब मेरी समझ में आ गया है कि आपका रास्ता अलग है और मेरा रास्ता अलग!

इतना कहकर लड़का संसार त्यागकर चल दिया।

वह लड़का उत्तम अधिकारी था, इसलिये उसे ज्ञान का एक वाक्य सुनकर ही अनुभूति हो गयी। परन्तु उसका पिता मन्द अधिकारी था, अत: प्रतिदिन कथा सुनकर भी, न तो उसके जीवन में कोई परिवर्तन आया और न ही ज्ञान हुआ।

संसार में शास्त्रों के अधिकांश पाठक या श्रोता ऐसे ही मन्द अधिकारी होते हैं, जो तत्त्व की बातों को एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देते हैं। पर कुछ अत्यन्त दुर्लभ – ऐसे उत्तम अधिकारी श्रोता भी होते हैं, जिन्हें तत्त्वज्ञान का एक वाक्य ही सुनकर ज्ञान हो जाता है। ❑❑❑

(ज्ञान-वैराग्य-प्रकाश से)

धौम्य ऋषि के तीन छात्र

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था। जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई है। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

(१) उद्दालक आरुणी

धौम्य ऋषि के आरुणी, उपमन्यु तथा वेद नाम के तीन शिष्य थे। ये लोग उनके आश्रम में रहकर विद्या का अभ्यास किया करते थे। ये लोग आदर्श विद्यार्थी थे – आचार्य को सेवा द्वारा सन्तुष्ट करके, उनके आदेशानुसार समस्त कार्य सम्पन्न करते हुए उनसे विद्याप्राप्ति में तत्पर रहा करते थे।

एक दिन धौम्य ऋषि ने आरुणी से कहा, "पांचाल्य आरुणी, धान के खेत से पानी बाहर चला जा रहा है, मेड़ टूट गयी है, जाओ वत्स, मेड़ को ठीक करके आ जाओ।"

आरुणी पांचाल देश का निवासी था, इसीलिये उसे पांचाल्य आरुणी कहा जाता था, परन्तु हम लोग उसे आरुणी कहकर ही सम्बोधित करेंगे।

आचार्य की आज्ञा से आरुणी कुदाल लेकर धान के खेत की मेड़ बाँधने गया। छोटी-मोटी टूट को तो वह सहज ही बाँध सकता था, परन्तु एक जगह मेड़ काफी अधिक टूट गया था और पानी बड़े वेग से बहा जा रहा था। काफी प्रयास के बाद भी आरुणी उस मेड़ को बाँधने में सफल नहीं हो सका। तब वह निरुपाय होकर सोचने लगा – "अब क्या करूँ ! यदि गुरुजी को इसकी सूचना देने जाऊँ, तो इसी बीच बहुत-सा पानी बाहर निकल जायगा। मुझे उन्होंने पानी रोकने के लिये ही तो भेजा है !"

लगता है कि धान का खेत आश्रम से थोड़ी दूरी पर ही स्थित था, इसीलिये उसके लिये दौड़कर पूछ आना सम्भव नहीं था। वैसे आरुणी को ज्ञात था कि धान के खेत में पानी होना आवश्यक है, क्योंकि उसमें प्रचुर जल न होने पर फसल अच्छी नहीं होती। वह सोचने लगा कि किस उपाय से पानी को रोका जा सकता है ! परन्तु एक उपाय को छोड़ उसे दूसरा कुछ नहीं सूझा। उसने देखा कि यदि वह उस टूटे हुए स्थान में पर लेट जाय, तो उससे कुछ मात्रा में पानी को रोका जा सकता है। उसके बाद, जरूर कोई-न-कोई आ पहुँचेगा, तब कोई अन्य उपाय किया जायगा। जो सोचा, वही किया। आरुणी टूटे हुए मेड़ के पास जाकर लेट गया।

आचार्य धौम्य ने बहुत देर तक आरुणी को न देखकर अपने अन्य दो शिष्यों से पूछा, "आरुणी कहाँ गया?"

वे बोले, "भगवन्, आपने ही तो उसे खेत में मेड़ बाँधने को भेजा था।"

धौम्य – "अब भी वह लौटा नहीं? चलो, देखें वह क्या कर रहा है !" धौम्य ने सोचा था कि आरुणी वह कार्य पूरा करके लौटने के बाद कहीं अन्यत्र गया होगा। खेत के पास जाकर आरुणी को वहाँ न देख पाकर वे उच्च स्वर में पुकारने लगे, "ओ वत्स आरुणी, तुम कहाँ हो? तत्काल यहाँ चले आओ।"

आचार्य की पुकार सुनकर आरुणी तत्काल मेड़ के नीचे से उठकर उनके पास आया और विनीत स्वर में बोला, "भगवन्, काफी प्रयास करके भी मैं खेत का पानी रोकने में समर्थ नहीं हो पा रहा था। मेड़ वहाँ काफी अधिक टूटी हुई है – वहाँ से काफी जल निकला जा रहा है, इसीलिये मैं वहीं लेटकर अपनी क्षमता के अनुसार इस शरीर से ही पानी को रोके हुए था। आपके पुकारते ही उठकर चला आया। अब आप जो भी आदेश करें, वही करूँगा !"

इतना कहने के बाद वह उन्हें प्रणाम करके आदेश की प्रतीक्षा में हाथ जोड़े खड़ा रहा। उसके पूरे शरीर से मिट्टी तथा कीचड़ लिपटा हुआ था। काफी देर तक पानी में लेटे रहने के कारण उसका शरीर सफेद हो गया था।

आज्ञाकारी शिष्य का विनय-भाव देखकर आचार्य धौम्य के हृदय में करुणा तथा स्नेह का उद्रेक हुआ। वे प्रसन्न भाव से बोले, "तुम खेत की मेड़ से उठकर आये हो, अतः आज से तुम्हारा नाम उद्दालक हुआ ! और तुमने इतना कष्ट उठा कर मेरी आज्ञा का पालन किया है, अत; तुम कल्याण के भागी होओगे, मेरा आशीर्वाद है कि तुम सारे वेदों तथा धर्म-शास्त्रों का गूढ़ मर्म स्वयं ही जानने में समर्थ हो सकोगे।"

बाद में आरुणी अपने गुरुदेव का आदेश पाकर अपने देश लौट गया और उनके आशीर्वाद से उसके अन्तर में समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्रकट हुआ और यथासमय वह भारत के महान ऋषियों में गण्य हुआ।

(२) विद्यार्थी उपमन्यु

उपमन्यु भी धौम्य ऋषि के ही आश्रम में रहकर विद्या प्राप्त कर रहा था। एक दिन आचार्य ने उसे आदेश दिया, "वत्स उपमन्यु, मेरी गायों को सावधानीपूर्वक चरा लाओ !"

गुरुजी के आदेश पर उपमन्यु गायों को चरागाह में ले

गया। सारे दिन गायों के साथ इधर-उधर घूमने के बाद शाम के समय वह लौट आता और आचार्य को प्रणाम करने के बाद हाथ जोड़कर सूचित करता कि उनका गोधन सकुशल है और गोशाले में लौट आया है।

इसी प्रकार कई दिन बीत गये। एक दिन शाम को जब वह लौटा, तो आचार्य धौम्य ने उसे देखकर पूछा, "वत्स उपमन्यु, तुम तो यहाँ भोजन नहीं करते, तो भी देख रहा हूँ कि तुम अच्छे हृष्टपुष्ट हो रहे हो। तुम खाते क्या हो?"

उपमन्यु – "जी, मैं भिक्षा माँगकर खा लेता हूँ।"

धौम्य – "देखो वत्स, मुझे बिना बताये भिक्षा में प्राप्त अन्न खाना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। उसे यहाँ ले आना।"

अगले दिन से वह भिक्षा माँगकर लाता और गुरुजी को अर्पित कर देता। पर वे उसमें से उपमन्यु को कुछ भी नहीं देते – सब उठाकर रख देते। कुछ दिन इसी प्रकार बीते।

अब भी उसे पहले के ही समान हृष्टपुष्ट देखकर गुरुजी ने पूछा, "वत्स उपमन्यु, मैं तो तुम्हें कुछ भी खाने को नहीं देता और तुम जो भिक्षा करके लाते हो, वह सब मैं ही रख लेता हूँ, परन्तु इस पर भी तुम पहले की अपेक्षा काफी मोटे दीख रहे हो। अब क्या खाते हो?"

उपमन्यु ने प्रणाम करके कहा, "भगवन्, एक बार भिक्षा करके आपको दे जाता हूँ, उसके बाद दुबारा भिक्षा माँगकर खा लेता हूँ।"

धौम्य – "वत्स, अब ऐसा अनुचित कार्य मत करना। इससे दूसरों की आजीविका नष्ट होती है और तुम भी क्रमश: लोभी होते जा रहे हो। विद्यार्थी को दो बार भिक्षा नहीं माँगना चाहिये।"

कुछ दिन और बीते। नियमित रूप से गायों को चराने के बाद जब वह शाम के समय लौटकर गुरुजी को प्रणाम करके खड़ा हुआ, तो उन्होंने देखा कि उपमन्यु पहले के ही समान पुष्ट है।

धौम्य – "वत्स उपमन्यु, भिक्षा का अन्न तो मैं ही ले लेता हूँ। दुबारा भिक्षा करने से भी मैंने तुम्हें मना कर दिया है, तो भी मैं देख रहा हूँ कि तुम पहले के ही समान पुष्ट हो। अब क्या खाते हो?"

उपमन्यु – "भगवन्, अब मैं गाय का दूध पीकर प्राण-धारण कर रहा हूँ।"

धौम्य – "वत्स, तुम बड़ा अनुचित काम कर रहे हो। मेरी अनुमति के बिना तुम गाय का दूध नहीं पी सकते।"

अब वह गुरुदेव के इस आज्ञा का भी पालन करता हुआ गौएँ चराने लगा। धौम्य ने उसे पहले के समान ही पुष्ट देखकर फिर पूछा, "वत्स उपमन्यु, भिक्षान्न तुम मुझे दे देते हो, दुबारा भिक्षा तुम माँगते नहीं और मैंने तुम्हें गाय का दूध पीने से भी मना कर दिया है। परन्तु देखता हूँ कि तुम खूब मोटे हो रहे हो। अब क्या खाते हो?"

उपमन्यु – "भगवन्, बछड़ों के स्तनपान कर लेने के बाद उनके मुख में दूध का जो फेन निकलता है। अब मैं वही पी लेता हूँ।"

धौम्य – "वत्स, यह भी तुम्हारे लिये उचित नहीं है। बछड़े दयापूर्वक तुम्हारे लिये अधिक फेन निकालते हैं। इससे उनका भरपेट दूध पीना नहीं हो पाता।"

इस आदेश के बाद भी उपमन्यु पूर्ववत् ही गायें चराने चला गया। अब उसकी भिक्षा बन्द हो गयी थी, गाय का दूध पीना बन्द था, यहाँ तक कि बछड़ों के मुख से निकलने वाला दूध का फेन खाना भी मना था। अब वह क्या करे! मैदान में आक का एक वृक्ष उगा हुआ था। भूख से कातर होकर उसने उसी के पत्तों को चबाकर खा लिया। अत्यन्त खारे तथा जहरीले आक के पत्तों को खाने से वह अन्धा हो गया। इसके बाद वह अन्धी अवस्था में ही चरागाह में घूमते हुए एक कुएँ में गिर पड़ा।

इधर संध्या हो आयी। गायों का झुण्ड लौट आया, परन्तु उपमन्यु नहीं आया – यह देखकर धौम्य ऋषि ने अन्य शिष्यों से कहा, "देखो, उपमन्यु अब भी नहीं लौटा। लगता है वह नाराज हो गया है, इसीलिये नहीं आया, क्योंकि मैंने उसे खाने से मना कर दिया था। चलो, देखें कि वह है कहाँ!"

धौम्य ऋषि शिष्यों के साथ चरागाह में जाकर उपमन्यु को ढूढ़ने लगे। वे पुकारने लगे, "ओ उपमन्यु, तुम कहाँ हो? हमारे पास आओ।" गुरुजी के गले की आवाज सुनकर उपमन्यु ने कुएँ के भीतर से ही उत्तर दिया, "भगवन्, मैं कुएँ में गिर गया हूँ।"

धौम्य – "वत्स, तुम कुएँ में कैसे गिर गये?"

उपमन्यु – "भगवन्, भूख से कातर होकर मैंने आक के पत्ते खा लिये थे, जिससे मैं अन्धा हो गया, इसीलिये देखने में असमर्थ होकर इस कुएँ में गिर पड़ा हूँ।"

धौम्य – "भय की कोई बात नहीं, वत्स! तुम देवताओं के वैद्य अश्विनी-कुमारों का स्मरण करो। इसी से तुम्हारी दृष्टि लौट आयेगी।"

यह कह कर उन्होंने अश्विनी-कुमारों को बुलाने का वेदमंत्र बता दिया। उपमन्यु ने सरल विश्वास के साथ मंत्र का उच्चारण किया और स्तुति करने लगा। उसके स्तव से सन्तुष्ट होकर अश्विनी-कुमारों ने दर्शन दिया और उसे एक तरह का पूआ खाने को दिया।

उपमन्यु बोला, "पहले मेरे आचार्य को दीजिये, क्योंकि पहले उन्हें दिये बिना मैं कुछ भी नहीं खाता।"

अश्विनी-कुमारों ने कहा, "इसमें कोई दोष नहीं लगेगा। तुम्हारे गुरु को भी मैंने एक बार पूआ खाने को दिया था। उन्होंने उसे अपने गुरु को दिये बिना ही खाया था। इसलिये तुम भी उन्हें दिये बिना ही खा सकते हो।"

उपमन्यु – "तो भी गुरु को निवेदित किये बिना मैं इसे नहीं खा सकता। आप लोग कृपा करके पहले उन्हें दीजिये।"

अश्विनी-कुमार – "तुम्हारी गुरुभक्ति देखकर हम लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। तुम्हारे आचार्य के लोहे के दाँत हैं, परन्तु तुम्हारे सारे दाँत सोने के हो जायेंगे। तुम फिर पहले के ही समान देख सकोगे और परम कल्याण प्राप्त करोगे।"

अश्विनी-कुमारों के वरदान से उपमन्यु को पुन: आँखें मिल गयीं और वह धौम्य ऋषि के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके उनके समक्ष खड़ा हो गया। सारी बातें सुनकर वे भी खूब सन्तुष्ट हुए और बोले, "वत्स, अश्विनी-कुमारों ने जो कुछ भी कहा है, वह सब तुम्हें प्राप्त होगा और समस्त वेद तथा धर्मशास्त्र तुम्हें बिना प्रयास ही स्मरण रहेंगे।" इसके बाद गुरुदेव के आशीर्वाद के साथ उपमन्यु घर लौटा।

(३) विद्यार्थी वेद

आचार्य धौम्य के तीसरे शिष्य का नाम 'वेद' था। वेद अत्यन्त विनयी तथा सुशील था और कभी गुरुदेव के आदेश का उल्लंघन नहीं करता था। वह सेवा-कार्य में कुशल था और धूप-वर्षा, सर्दी-गर्मी और भूख-प्यास में भी – सदा सारे कष्ट सहते हुए खूब श्रद्धा-भक्ति सहित गुरुजी के आदेश का पालन करता। उसमें आलस्य का नामो-निशान तक न था। वह कभी किसी विषय में लापरवाही नहीं दिखाता। वह कभी यह सोचकर कि 'बाद में कर लूँगा' – काम को टालता न था अर्थात् वह दीर्घसूत्री न था। उसमें विद्या के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय का लोभ न था।

उसने इसी प्रकार दीर्घ काल तक गुरुदेव की निष्ठापूर्वक सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर लिया था, इसीलिये वह उनकी कृपा से समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हो गया था और श्रेयस् की प्राप्ति करके धन्य हो गया था। ❖ (क्रमश:) ❖

जग में निज सौरभ फैलाओ

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

जो फूल, सुरभि का उपवन में,
करते कुछ भी संचार नहीं।
उन फूलों पर आकर भौरे,
करते कदापि गुंजार नहीं।।

उनका गुलाब जैसा जग में,
सम्मान कहो, कब हो सकता?
जो काँटों में पलकर अपना,
कर सकते हैं शृंगार नहीं।।

गर्मी-सर्दी-वर्षा-आँधी-
अंधड़ में जो मुस्का न सका।
उसको तो स्नेहिल नयनों का,
मिल सकता कुछ भी प्यार नहीं।।

तज गेह स्वयं, बिंध सूई से,
जो एक सूत्र में गुँथा नहीं।
'मधुरेश' कभी इस दुनिया में,
वह हो सकता उरहार नहीं।।

पद्मलोचन तर्कालंकार

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

श्रीरामकृष्ण एक गरीब निरक्षर ब्राह्मण थे, तथापि उन्होंने अपने असाधारण ईश्वर-प्रेम और साधना के द्वारा ऐसी आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त कर लिया था, जिसका जोड़ धर्म के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता। विश्वास, प्रेम, आत्म-त्याग, चरित्र की पवित्रता और ईश्वर की इच्छा पर पूरी तौर से निर्भरता – ये धार्मिक मनुष्य के कुछ प्रमुख लक्षण हैं; और श्रीरामकृष्ण के जीवन में हमें इन बातों की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। वे तर्क-वितर्क और सूक्ष्म विवादों से दूर रहते तथा अपने समकालीन लोगों की तुलना में किताबी ज्ञान पर बहुत कम विश्वास रखते थे। वे तो पूरी तरह से साधना में डूब गये थे और अनुभूतियों के द्वारा उन्होंने दर्शन तथा अध्यात्म के सर्वोच्च और सर्वोत्तम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया था। तत्पश्चात् लोगों के बीच लौटकर उन्होंने अपने प्रत्येक कार्य तथा शब्द के द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि मनुष्य इसी जीवन में सच्चे सुख को, दिव्य आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

वे धार्मिक आडम्बरों और सिद्धि-चमत्कारों से सर्वथा रहित थे। उनके चेहरे पर सर्वदा खेलती 'पूर्णता की आभा, शिशुवत् कोमलता, हृदय-स्पर्शी विनम्रता, अवर्णनीय माधुर्य की छटा और मुस्कान ..., जैसी किसी अन्य चेहरे पर देखने में नहीं आयी थी'[१] – यही मात्र ऐसा लक्षण था, जिससे उनके सन्तत्व का परिचय मिलता था। प्राचीन ऋषि-मुनियों और शास्त्रों की बातें उनके होंठों से नवीन चेतना और सत्य लेकर मुखरित होतीं। सभी धर्मों तथा निष्ठावान साधकों के प्रति उनमें गहन श्रद्धा का भाव था। उनके भावपूर्ण नेत्रों में सभी धर्मों के प्राचीन सिद्ध ऋषियों की आध्यात्मिक अनुभूतियों की झलक मिलती। इस सार्वभौमिकता ने उनमें जो व्यापक समझ, सबके प्रति सहानुभूति और समस्त नर-नारियों के लिये गहन अपनत्व का भाव उत्पन्न कर दिया था, उसके फलस्वरूप वे सबके प्रिय थे।

पवित्रता, विनम्रता, भक्ति और ज्वलन्त त्याग से मण्डित उनके व्यक्तित्व की सुन्दरता सभी वर्ग के लोगों को आकर्षित करती। उनके शब्द, पंख लगे तीर की भाँति, सीधे हृदय में प्रवेश करते। वस्तुत: उनमें विकसित इस शक्ति के फलस्वरूप वे उन गिने-चुने लोगों में से एक बन गये, जो इतिहास को एक नयी दिशा और गति प्रदान करते हैं।

श्रीरामकृष्ण सदा दूसरों के गुणों की प्रशंसा करते और उन्हें उचित सम्मान देते। वे कहते, "अरे, सम्माननीय व्यक्ति को मर्यादा न देने से भगवान रुष्ट होते हैं; उन्हीं (भगवान) की शक्ति से ही तो ये श्रेष्ठ बने हैं, उन्हीं ने तो इन्हें श्रेष्ठ बनाया है – इनकी अवज्ञा करने पर उन्हीं (भगवान) की अवज्ञा होती है।" स्वामी सारदानन्द लिखते हैं, "अत: हम देखते हैं कि जब कभी श्रीरामकृष्ण को कहीं पर किसी गुणी व्यक्ति का समाचार मिलता था, वे तत्काल ही किसी भी प्रकार उनके दर्शन के निमित्त व्याकुल हो उठते थे। यदि वह व्यक्ति उनके पास आता, तब तो कहना ही क्या, अन्यथा बिना बुलाये भी वे स्वयं जाकर उनका दर्शन, उनसे वार्तालाप तथा उन्हें प्रणाम कर आते थे।"[२]

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने पद्मलोचन तर्कालंकार भट्टाचार्य के बारे में सुना। कालना, बर्दवान के पास ब्राह्मण-परिवार में जन्मे पद्मलोचन ने वाराणसी में अनेक वर्षों तक कठिन परिश्रम करके वेदान्त-दर्शन का अध्ययन किया था। इसके पूर्व उन्होंने न्याय-शास्त्र पर अधिकार प्राप्त किया और बर्दवान के महाराजा के प्रमुख राजपण्डित का गौरवमय पद पाया था। उनकी महत्ता को प्रकट करनेवाली कथाएँ जनमानस में प्रचलित थीं।

सारदानन्दजी से हमें पता लगता है कि "दैनन्दिन जीवन में उनमें सदाचार, इष्टनिष्ठा, तपस्या, उदारता, निर्लिप्तता आदि गुणों का सतत परिचय पाकर लोगों ने उनको एक विशिष्ट साधक एवं ईश्वरप्रेमी माना था। संसार में यथार्थ पाण्डित्य तथा ईश्वर-भक्ति का एक साथ समावेश दुर्लभ है, वे दोनों कहीं यदि एक साथ होते हैं, तो ऐसे व्यक्ति के प्रति लोग विशेष आकृष्ट हुआ करते हैं। अत: लोक-परम्परा से इन बातों को सुनकर श्रीरामकृष्ण के लिए ऐसे योग्य पुरुष के दर्शन की इच्छा होना भी कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। श्रीरामकृष्ण के हृदय में जिस समय इस प्रकार की इच्छा का उदय हुआ था, पण्डितजी उस समय प्रौढ़ावस्था को प्राय: पार कर चुके थे और बहुत दिनों से ससम्मान बर्दवान राजदरबार में नियुक्त थे।"[३] सारदानन्दजी के अनुसार पण्डितजी श्रीरामकृष्ण से १८६४ में आयोजित अन्नमेरु समारोह के कुछ समय पूर्व प्रथम बार मिले थे।[४] तब तक

१. प्रतापचन्द्र मजुमदार, 'समसामयिक दृष्टिते श्रीरामकृष्ण परमहंस' (बँगला), कलकत्ता, पृ. १९८ पर उद्धृत।

२. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ६८४; ३. वही, पृ. ६०८; ४. वही, भाग १, पृ. २२७

श्रीरामकृष्ण ने तंत्रमत की साधना पूर्ण कर ली थी।

पण्डितजी से मिलने के उत्सुक बालक-स्वभाव श्रीरामकृष्ण ने मथुरानाथ के पास अपनी इच्छा प्रकट की। मथुरानाथ ने कहा कि वे सहर्ष उनके बर्दवान जाने का प्रबन्ध कर देंगे। जगन्माता ने श्रीरामकृष्ण को बतलाया कि वे विद्वान् पण्डित दस दिन बाद कलकत्ते आएँगे; और सचमुच ऐसा ही हुआ। एक दिन मथुरानाथ यह खबर लाये कि पद्मलोचन कलकत्ते आये हैं और अरियादह में विमलचरण विश्वास के बगीचे में ठहरे हैं। वे अस्वस्थ हैं और कलकत्ते के प्रसिद्ध चिकित्सक गंगाचरण सेन से इलाज करवा रहे हैं। इसके बाद हृदय ने भी आसपास से सुनी बातों से इसकी पुष्टि की।

पहले हृदय पद्मलोचनजी से मिलकर आये और बताया कि पण्डितजी अभिमानी नहीं हैं; इतना ही नहीं, वे सज्जन भी हैं। उन्होंने यह भी बताया कि उन्होंने पण्डितजी में स्वयं दक्षिणेश्वर के परमहंसदेव से मिलने का विशेष आग्रह देखा।

श्रीरामकृष्ण अगले दिन हृदय को साथ लेकर नाव द्वारा गंगा-तट पर कुछ मील दूर स्थित अरियादह गये। किसी प्रकार की औपचारिकता की अपेक्षा न करते हुए श्रीरामकृष्ण सीधे उस कमरे में चले गये, जहाँ पण्डित पद्मलोचन ठहरे हुए थे। बिस्तर पर लेटे हुए पण्डितजी चकित हो उठे और उठकर श्रीरामकृष्ण के सम्मुख खड़े हो गये। उनका मुखमण्डल आनन्द से उत्फुल्ल हो उठा और वे कह उठे, "अहा! कैसा अद्भुत दृश्य है – बाहर का मानवी रूप भीतर स्थित जगन्माता के सुन्दर रूप को ढके हुए है!" हाथ जोड़कर पण्डितजी ने श्रीरामकृष्ण का स्वागत किया और आसन ग्रहण करने का अनुरोध किया।

श्रीरामकृष्ण अभ्रान्त रूप से किसी भी व्यक्ति का मनोभाव पढ़ लेते थे। उनकी असाधारण आध्यात्मिक अनुभूतियों की सम्पदा और मानसिक शक्तियाँ उन्हें बिल्कुल अपरिचित व्यक्ति की भी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को उजागर कर देती थीं। पद्मलोचन को देखते ही श्रीरामकृष्ण को यह ज्ञात हो गया कि इन्होंने भगवती अम्बिका की कृपा से सिद्धिलाभ किया है।[५]

आसन ग्रहण करते हुए श्रीरामकृष्ण भावस्थ हो गये। उन्होंने अपने सहज शिशुवत् ढंग से पूछा, "क्या तुम पद्मलोचन हो?"

"हाँ, मैं पद्मलोचन के नाम से परिचित हूँ।"

श्रीरामकृष्ण – "क्या तुम सचमुच बड़े विद्वान् हो?"

विनम्र पद्मलोचन ने उत्तर दिया, "जब आप कह रहे हैं, तो अवश्य होऊँगा।"

थोड़ी देर बाद भावस्थ श्रीरामकृष्ण ने अपने मधुर कण्ठ से रामप्रसाद का जो भजन गाया, उसका भावार्थ इस प्रकार है –

"कौन जाने काली कैसी है? षड्दर्शन उसे देख नहीं पाते। वह इच्छामयी अपनी इच्छा के अनुसार घट-घट में विराजमान है। यह विराट् ब्रह्माण्ड-रूपी भाण्ड, जो काली के उदर में है, उसे कैसे जान सकते हो? शिवजी ने काली का मर्म जैसा समझा, वैसा दूसरा कौन जानता है? योगी सदा सहस्त्रार और मूलाधार में मनन करते हैं। काली पद्म-वन में, हंस के साथ, हंसी के रूप में रमण करती है। 'प्रसाद' कहता है, लोग हँसते हैं। मेरा मन समझता है, पर प्राण नहीं समझते – बौना होकर चन्द्रमा पकड़ना चाहते हैं।"[६]

भाव में डूबे हुए इसके बाद वे फिर गाने लगे –

बन्धु, बताओ क्या होता है, मानव के मरने के बाद?
अपनी-अपनी बुद्धि लगाते, करते रहते लोग विवाद;
कोई कहता भूत बनेगा, कोई कहता स्वर्ग गया;
कोई कहता विष्णुलोक में, कोई प्रभु में लीन भया।[७]

अब भी भाव में डूबे श्रीरामकृष्ण ने कुछ और मर्मस्पर्शी भजन गाये। अन्तर्मुखी दृष्टि के साथ वे समाधिमग्न हो गये। पण्डित पद्मलोचन उनके अलौकिक आलोक से उद्भासित मुखमण्डल की ओर एकटक देखते हुए चकित खड़े रहे। उनके नेत्रों से अश्रु झर रहे थे। वे सहज ही अनुभव कर रहे थे कि श्रीरामकृष्ण में यह परिवर्तन कोई क्षणिक भावावेश नहीं, अपितु किसी दुर्लभ आध्यात्मिकता अनुभूति के फलस्वरूप है। परिवेश गम्भीर था और पण्डित पद्मलोचन यह सोचकर अत्यन्त प्रभावित थे कि उन्होंने शास्त्रों के मर्म को जैसा समझा था, वह उनके तथा उनके शिष्यों के सामने प्रत्यक्ष प्रकट है। भजन के समाप्त होने पर भावविभोर पद्मलोचन ने अपने को यथासम्भव संयमित किया, अपने आँसुओं को पोंछा और हृदयराम से कहा, "कैसा अद्भुत है; इसके पहले मैंने कभी आँसू नहीं बहाये। इनके भजन सुनकर मेरी आँखों में आँसू बहने लगे।"[८] सचमुच पण्डितजी के लिए वह एक दुर्लभ अनुभव था, क्योंकि इसके पहले उन्होंने धार्मिक सत्य को इतने सहज रूप से अनुभूत होते नहीं देखा था।

कुछ देर बाद भावोच्छ्वास से रुँधे हुए कण्ठ से पण्डितजी बोले, "इस दर्शन से मेरा जीवन धन्य हो गया। धर्मशास्त्रों का मेरा दीर्घ और अनवरत अध्ययन आज फलीभूत हुआ।" इतने वर्षों से पण्डितजी धर्मशास्त्र और उनकी टीकाओं के माध्यम से जो तत्त्व अपने शिष्यों को समझाना चाहते थे, उसे ठाकुर में जीवन्त प्रकट देखकर वे आनन्दविभोर थे। आसपास खड़े अपने शिष्यों को सम्बोधित करके उन्होंने कहा, "देख रहे हो?

५. अक्षय कुमार सेन, 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथी' (बँगला) कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय, पंचम संस्करण, पृ. १२५

६. 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', नागपुर, भाग १, सं. १९९९, पृ. २४

७. गुरुदास बर्मन, रामकृष्ण चरित (बँगला), भाग १, पृ. १०१

८. श्रीरामकृष्ण ने २२ जुलाई, १८८३ के दिन भक्तों से कहा था, "वह तो इतना ज्ञानी और पण्डित था, परन्तु मेरे मुँह से रामप्रसाद के गाने सुनकर रो पड़ा!" ('वचनामृत', भाग १, पृ. २६९)

मैंने कमरे-भर शास्त्रों को मथ करके जो पाया है, उससे करोड़ों -गुना अधिक इन्होंने बिना शास्त्र पढ़े ही प्राप्त कर लिया है।''[९]

कुछ क्षण बीते। श्रीरामकृष्ण ने अपनी शिशुवत् सरलता के साथ पण्डितजी से पूछा, ''अच्छा जी, क्या बता सकते हो कि यह मुझे क्या पकड़ लेता है?''

पद्मलोचन – ''यह समाधि है, देवताओं तक को भी सहज में नहीं मिलती।''

हृदय ने पण्डितजी से पूछा, ''कुछ बड़े पण्डितों ने इन्हें भगवान का अवतार माना था। आप क्या कहते हैं?''

शास्त्रों में वर्णित बड़ी-बड़ी बातों से दूर, पण्डितजी ने अपने हृदय की बात कही। कुछ उत्तेजित-से होकर उन्होंने कहा, ''अवतार से तुम क्या समझते हो? यदि ये चाहें, तो कई अवतारों को तैयार कर सकते हैं।''

श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा, ''तुम महाराजा के राजपण्डित हो। तुम मुझे इतना सम्मान क्यों देते हो?''

पद्मलोचन – ''आपकी पावन पदधूलि के स्पर्शमात्र से कितने ही मूर्ख मेरे-जैसे पण्डित बन सकते हैं।'' पण्डितजी ने आगे कहा, ''अवतारवाद की धारणा बड़ी हल्की बात है। आप तो वे हैं, जो अवतारों की सृष्टि करते हैं। यदि कोई मेरी बात को चुनौती दे, तो मैं शास्त्रों के आधार पर उससे शास्त्रार्थ करने को तैयार हूँ।''[१०] उन्होंने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, ''आपकी उपलब्धियाँ वेद-पुराण आदि को पार करके बहुत आगे तक दूर जा चुकी हैं।''[११]

कुछ दिनों बाद पण्डितजी ने श्रीरामकृष्ण से भेंट करने की इच्छा प्रकट की। वे उन्हें धार्मिक विषयों पर उत्सवानन्द गोस्वामी जैसे प्रसिद्ध पण्डितों के सामने रखे गये अपने तर्कों को सुनाना चाहते थे। उनका मनोभाव यह था कि यदि श्रीरामकृष्ण उसे धैर्यपूर्वक सुन लें, तो वह उनके लिए वरदान-स्वरूप होगा।[१२] उसके बाद पण्डितजी ने उत्सवानन्द गोस्वामी को लिखा अपना पत्र श्रीरामकृष्ण को पढ़कर सुनाया। इस घटना का स्मरण करते हुए श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था, ''वैष्णव-चरण के गुरु उत्सवानन्द से उसने पत्र-व्यवहार करके विचार किया था, फिर मुझसे कहा, 'आप भी जरा सुनिएगा'।''[१३]

पद्मलोचन ने एक बार श्रीरामकृष्ण से कहा था, ''तुम जगन्माता के साक्षात् प्रकट रूप हो। रानी रासमणि और मथुर बाबू बहुत भाग्यशाली हैं, जो उन्हें तुम्हारी सेवा करने का सुयोग मिला है। अपनी इस बीमारी से ठीक होने पर मैं पण्डितों की एक सभा बुलाकर तुम्हारी अनुभूतियों को उन लोगों के सामने रखूँगा। तब मैं देखूँगा कौन मुझे मेरी अधिकारपूर्वक कही बात से डिगा सकता है।''[१४] विस्मित होकर श्रीरामकृष्ण ने पूछा, ''अच्छा, क्या तुम निम्न जाति की रानी रासमणि के मन्दिर में आओगे?'' पद्मलोचन बड़े कट्टर, पुरातनपन्थी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। इसके बावजूद उन्होंने उत्तर दिया, ''तुम्हारे साथ अछूतों के घर की सभा में भी जाऊँगा, इसमें भला हर्ज ही क्या है? तुम्हारे साथ मैं चाण्डाल के यहाँ भी जाकर भोजन कर सकता हूँ।''[१५]

बातचीत काफी समय तक चलती रही। श्रीरामकृष्ण प्रसन्न थे, वे तो सुप्रसिद्ध पण्डितजी की आध्यात्मिक उपलब्धियों की गहराई जानने के लिए उत्सुक थे। श्रीरामकृष्ण ने बाद में स्मरण करते हुए बतलाया था, ''हम लोग मिलकर बहुत देर तक बात करते रहे, बातें करके ऐसा सुख मुझे कहीं और नहीं मिला।''[१६]

बातचीत के दौरान पद्मलोचन ने श्रीरामकृष्ण को सलाह दी थी, ''भक्तों का संग करने की कामना त्याग दो, नहीं तो तरह-तरह के लोग हैं, वे तुमको गिरा देंगे।'' कट्टर मत का पोषण करनेवाले पण्डितजी श्रीरामकृष्ण की सदा-सर्वदा बनी रहनेवाली असीम पवित्रता अथवा उनकी आध्यात्मिक शक्ति की गहराई की थाह नहीं पा सके थे। श्रीरामकृष्ण ने उनकी सलाह पर क्या कहा था, यह तो ज्ञात नहीं हैं, पर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे इस बात से सहमत नहीं हुए होंगे।

श्रीरामकृष्ण के दक्षिणेश्वर लौट जाने के बाद भी पण्डितजी के मन में उनकी स्मृति घूमती रही। इस भेंट के पहले और बाद में पण्डितजी को जैसा अनुभव हुआ था, इस विषय में स्वामी सारदानन्दजी लिखते हैं, ''श्रीरामकृष्ण की चरम उपलब्धियों को शास्त्र में लिपिबद्ध न देखकर, शास्त्र की बात तथा श्रीरामकृष्ण की उपलब्धि – इन दोनों में कौन-सा सत्य है, यह वे निर्णय नहीं कर पाये थे। अत: शास्त्रीय ज्ञान तथा अपनी तीक्ष्ण बुद्धि की सहायता से आध्यात्मिक विषयों में सदा निश्चित निर्णय पर पहुँचने में समर्थ पण्डितजी के विचारशील मन को श्रीरामकृष्ण का परिचय प्राप्त कर आलोक में अन्धकार की एक छाया के सदृश अपूर्व आनन्द के साथ-साथ एक प्रकार की अशान्ति की भी उपलब्धि करनी पड़ी थी।''[१७]

अरियादह में रहते समय बीमार पद्मलोचन अपने पुत्र द्वारा श्रीरामकृष्ण को अपने यहाँ आने का आमंत्रण भेजते रहते थे। श्रीरामकृष्ण उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते थे। पद्मलोचन की बीमारी बढ़ती ही जा रही थी, पर वे धार्मिक विषयों पर चर्चा करते रहते। एक बार पद्मलोचन ने एक मनोरंजक घटना सुनाई थी। एक बार सभा में पण्डितों में इस बात पर विवाद चल रहा

९. 'रामकृष्ण चरित', पृ. १०१; **१०.** 'रामकृष्ण चरित'।

११. लीलाप्रसंग, भाग १, पृ.२६४; **१२.** रामकृष्ण चरित, पृ.१०२

१३. 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', नागपुर, भाग १, पृ. २६९। लगता है कि उन्होंने यह अपने निवास आरियादह में ही सुनाया था।

१४. रामकृष्ण चरित, पृ. १०३। इसके बाद ही उनका देहावसान हो गया, अत: वे ऐसा नहीं कर सके। ('वचनामृत', भाग २, पृ. १०४२)

१५. 'वचनामृत', भाग १, पृ. ४२६; **१६.** वही, भाग १, पृ. २६९

१७. 'लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ६०९

था कि कौन बड़ा है – शिव या विष्णु? किसी निर्णय पर न पहुँच पाने के कारण पण्डितगण पद्मलोचन के पास पहुँचे और उनसे अनुरोध किया कि वे विशेषज्ञ के रूप में अपना निर्णय दें। बिना किसी संकोच के सरल स्वभाववाले पद्मलोचन ने प्रश्न सुनते ही कहा, "मेरे चौदह पुरखों में से किसी ने न तो शिव को देखा है, न विष्णु को, अत: कौन बड़े और कौन छोटे हैं, यह मैं कैसे कह सकता हूँ? किन्तु यदि शास्त्र की बात सुनना चाहो तो यही कहना होगा कि शैव शास्त्रों में शिव को श्रेष्ठ कहा है तथा वैष्णव शास्त्रों में विष्णु को। अत: जिसके जो इष्ट हैं, उसके लिए वही देवता अन्य सभी देवताओं से श्रेष्ठ हैं।"[१८]

इन बातों को सुनकर श्रीरामकृष्ण इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें समाधि लग गयी। सहज अवस्था में लौटने पर उन्होंने पद्मलोचन से कहा, "तुमने ठीक समझा है।"[१९]

पर ऐसा लगता है कि इतने बड़े वेदान्ती पद्मलोचन श्रीरामकृष्ण के त्याग-विषयक विचारों को अधिक पसन्द नहीं कर सके थे। वर्षों बाद श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "कामिनी-कांचन का त्याग – सुनकर एक दिन पद्मलोचन ने मुझसे कहा था, 'इन सबका त्याग क्यों कर रहे हो? यह रुपया है, वह मिट्टी है – यह भेदबुद्धि तो अज्ञान से पैदा होती है।' मैं क्या कह सकता था – बोला, 'क्या मालूम, पर मुझे रुपया-पैसा आदि रुचता ही नहीं'।"[२०]

पण्डितजी का श्रीरामकृष्ण से परिचय ज्यों-ज्यों घनिष्ठ होता गया, त्यों-त्यों उनकी श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक उपलब्धि विषयक धारणा स्पष्ट होती गयी। उन्होंने क्रमश: श्रीरामकृष्ण में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश देखा, जिसकी बुद्धि के द्वारा व्याख्या कर पाना प्राय: असम्भव था। यह बात निम्नलिखित घटना से स्पष्ट होती है।

पद्मलोचन ने दीर्घ काल तक सिद्धाई पाने की इच्छा से तन्त्र-साधना की थी। फलस्वरूप उन्हें ऐसी सिद्धि मिली थी, जिसके कारण वे शास्त्रार्थ आदि में अपराजेय रहते थे। अपनी इष्टदेवी के आदेश पर वे एक जल-भरा कमण्डलु और अँगोछा सदा अपने साथ रखते। किसी प्रश्न की मीमांसा के लिए अग्रसर होने से पूर्व वे उसे हाथ में लेकर इधर-उधर थोड़ी दूर घूम लेते थे। तत्पश्चात् मुँह धोकर तथा कुल्ला करके वे उस कार्य में प्रवृत्त होते थे। यह रहस्य किसी को, यहाँ तक कि उनकी पत्नी को भी ज्ञात न था। एक दिन किसी शास्त्रार्थ के पूर्व श्रीरामकृष्ण ने उनका कमण्डलु और अँगोछा छिपा दिया। जगन्माता ने श्रीरामकृष्ण के समक्ष पण्डितजी की सिद्धि का रहस्य खोल दिया था।[२१] पण्डितजी समझ गये कि श्रीरामकृष्ण सब कुछ जान चुके हैं, 'तब पण्डितजी से रहा नहीं गया और वे साक्षात् इष्टबुद्धि से उनकी स्तव-स्तुति करने लगे।' इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने, न केवल उनकी उस सिद्धि को, बल्कि उनके भीतर की सत्ता-लाभ की कामना ही दूर कर दी, ताकि वे शुद्धाभक्ति पा सकें।

पद्मलोचन तब से श्रीरामकृष्ण को साक्षात् ईश्वर समझते[२२] और उनकी तदनुरूप भक्ति करते। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "पद्मलोचन इतना बड़ा पण्डित होकर भी यहाँ के (मेरे) प्रति इस प्रकार विश्वास-भक्ति करता था!"[२३] अक्षय कुमार सेन के अनुसार, पद्मलोचन ने श्रीरामकृष्ण में अपनी इष्टदेवी जगदम्बा काली के दर्शन किये थे।[२४] परवर्तीकाल में श्रीरामकृष्ण ने भी स्वीकारा था, "पद्मलोचन सदृश कितने ही व्यक्ति ..., जिन्होंने जीवन भर इन विषयों की चर्चा में अपना जीवन बिताया – यहाँ आकर मुझे अवतार कह गये हैं।"[२५]

चूँकि पण्डितजी का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता ही जा रहा था, अत: वे श्रीरामकृष्ण से सजल नेत्रों से विदा लेकर काशीधाम चले गये। कहते हैं कि थोड़े दिन बाद ही वहाँ उनका निधन हो गया।[२६]

श्रीरामकृष्ण और पद्मलोचन के मिलन में श्रीरामकृष्ण की उस विशेषता का परिचय मिलता है कि वे किस प्रकार साधकों के भीतर की आध्यात्मिक अवस्था को और उनकी आध्यात्मिक प्रगति में बाधा उपस्थित करनेवाले उनके भीतर के संकीर्ण विचारों, द्वेषों एवं रूढ़ियों को जान जाते थे। उनका मिलन यह भी बताता है कि श्रीरामकृष्ण किस प्रकार ऐसे साधकों को उच्च बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर जाने के लिए मार्गदर्शन करते, जिससे उन लोगों के लिये अन्तत: उस अनन्त की चरम अनुभूति को प्राप्त करने का मार्ग खुल जाया करता था। ❑

१८. वही, भाग २, पृ. ६०७; **१९.** 'रामकृष्ण चरित', पृ. १०३-४
२०. 'वचनामृत', भाग १, पृ. २६९। श्रीरामकृष्ण की धारणा की पुष्टि के लिए शास्त्रों से ये निम्नलिखित दो के सिवा और अधिक उद्धरण देने की जरूरत नहीं प्रतीत होती – "कर्म, सन्तानोत्पत्ति या सम्पत्ति के द्वारा नहीं, बल्कि कुछ लोगों ने त्याग के द्वारा अमृतत्व प्राप्त किया है।" (महानारायण-उपनिषद्, १२/१४); और, 'पत्नी के त्याग से वास्तव में मनुष्य आन्तरिक सुख-भोग की आसक्ति का त्याग करता है, और उस आसक्ति के त्याग से वह परम सुख को प्राप्त होता है।" (योगवासिष्ठ रामायण', वैराग्य प्रकरण, २१/३५)

२१. 'लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ६१०
२२. शशिभूषण घोष : 'श्रीश्रीरामकृष्णदेव' (बँगला) (कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय), पृ. २४४
२३. 'लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ६१०;
२४. 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथी', पृ. १२४
२५. 'लीलाप्रसंग', भा. २, पृ. ६११; **२६.** वही, भाग २, पृ. ६१०

माँ की पुण्यस्मृति

चारुबाला सेनगुप्त

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९०९ ई. में बारह वर्ष की आयु में मेरा विवाह हुआ। उसके एक माह के भीतर ही अपने कर्मस्थल पर पति के देहान्त हो जाने से मैं विधवा हो गयी। १९१४ ई. तक मैं अपने माता-पिता के पास रही। तभी मेरे परिवार के लोगों ने विद्यासागर के मतानुसार मेरे पुनर्विवाह की व्यवस्था की। मैंने कहा, "मैं विवाह नहीं करूँगी, विवाह होने पर मैं पुन: विधवा हो जाऊँगी।" मैंने उन लोगों से तीन दिन का समय माँगा। सहसा एक दिन स्वप्न में देखा – हाथ के कंगन पहने एक महिला मुझसे कह रही है, "विवाह मत करना। मेरे पास आओ, तुम्हारे कानों में बीजमंत्र देती हूँ।" अगले दिन सुबह मैंने यह बात सबको बताया, पर कोई भी इसकी व्याख्या नहीं दे सका। मैंने पुन: विवाह नहीं किया। एक वर्ष इसी प्रकार बीतने के बाद सहसा मेरे मामा के चचेरे भाई आये। वे एक सज्जन व्यक्ति थे। उन्होंने मुझसे सारी बातें सुनकर बागबाजार के रामकान्त बसु लेन के निवासी मेरे नाना और चचेरे भाइयों को सब कुछ बताया।

अगले दिन (१९१५ ई. के बैशाख में) सुबह साढ़े आठ बजे मैं उद्बोधन कार्यालय में माँ के पास गयी। जाकर देखा, माँ पूजा करने बैठी हैं। धीरे-धीरे जाकर मैं उनके पीछे बैठी। पूजा समाप्त करके माँ ने मुझसे कहा – तुम आयी हो। फिर मृदु हास्य के साथ बोली, "तुम्हें देखकर और निकट पाकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। मुझे पहचान रही हो?" – इतना कहकर माँ ने अपने हाथ के कंगन दिखा दिये। सहसा स्वप्न की बात याद आयी। मैं विस्मय-विमुग्ध हो गयी। थोड़ी देर बाद माँ ने थाली-भर प्रसाद दिया। सोचा – इतना प्रसाद कैसे खाऊँगी? माँ ने स्वयं ही कहा, "लौटते समय घर लेती जाना।" इतना कहकर उन्होंने एक मिठाई मेरे हाथ में दिया। खाना समाप्त होने पर माँ ने पुन: कहा, "तुम फकीर हो, ठाकुर तुमसे कुछ नहीं चाहते। कल आते समय ठाकुर के लिए दो पैसे के फूल लेती आना।"

घर लौटकर मैंने नाना से सारी बातें बतायी। अगले दिन नाना ने मुर्शिदाबाद की एक रेशमी साड़ी, दो रुपये की मिठाइयाँ और कुछ फूल मँगवाकर प्रणामी के दो रुपये दिये। अगले दिन यथारीति माँ ने पूजा की समाप्ति के बाद रेशमी वस्त्र तथा मिठाइयाँ देख मुझसे बोलीं, "यह सब क्यों लायी हो? तुम फकीर हो। ठाकुर तुमसे कुछ नहीं चाहते।" कुछ देर तक माँ के चेहरे की ओर देखते रहने के बाद मैं बोली, "नाना से कहूँगी। अभी तो ले लो।" माँ पूजा करने बैठीं। थोड़ी देर बाद स्वप्न में मिले मंत्र का उच्चारण करके बोलीं, "याद है?" "मैंने कहा, 'हाँ, स्वप्न में पाया है, लेकिन और कुछ नहीं जानती। माँ बोलीं, "यही तुम्हारा मंत्र है। इसका जप करना। किसी से बताना नहीं, सर्वदा गुप्त रखना।" माँ ने मुझे जपविधि आदि दिखा दिया। तत्पश्चात् बोलीं, "सदा ठाकुर को पुकारना। उन्हीं को सब कुछ बताना। यदि तुम्हें कोई शंका हो, तो मुझसे पूछ लेना। इस जगत् में तुम्हारी मैं हूँ और इष्ट हैं; अन्य कोई नहीं है।... तुम्हारे भीतर बीज रोप दिया है, वृक्ष अवश्य होगा। बाद में मेरा पल-पल बोध होगा।" नाना के दिये हुए दो रुपये देकर मैंने माँ को प्रणाम किया। वे मुझे आलिंगनबद्ध करती हुई बोलीं, "तुम्हें देखकर ही लगता है कि तुम लोग मेरे हो। बीच-बीच में मेरे पास आना। बाद में सब अनुभव कर सकोगी।"

उन्हें 'माँ' कहकर पुकारने का, उनके श्रीचरणों में बैठकर उपदेशामृत पाने का सौभाग्य मुझे मिला था – यही मेरे जीवन का सबसे बड़ा आनन्द है। दु:ख इस बात का है कि स्नेहमयी माँ को इतने समीप पाकर भी मैं उन्हें पहचान न सकी। जो थोड़े दिन माँ के श्रीचरणों में आश्रय मिला है, दर्शन मिला है, उसी से लगता है कि उनकी करुणा अनन्त-अपार है। माँ के पास जाते समय सोचा करती कि बहुत-सी बातें पूछूँगी, पर पास जाने पर सब भूल जाती, लेकिन मेरा हृदय परिपूर्ण हो जाता – कोई अभाव नहीं रह जाता।

माँ साधन-भजन के सर्वोच्च शिखर पर अधिष्ठित थीं। एक ओर वे सर्वत्यागी संन्यासिनी थीं, तो दूसरी ओर पातिव्रत्य धर्म तथा गार्हस्थ धर्म की परिसीमा दिखा गयी हैं। वे भक्त-वत्सलता तथा साधना की चरमावस्था संन्यास – दोनों की ही आदर्श थीं। उन्होंने स्वयं कितने ही नर-नारियों पर कृपा करके कृतार्थ किया, पर उन्हें देखने से लगता मानो वे एक अति साधारण, सरल तथा लज्जाशीला गृहस्थ कुलबधू हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१८)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

२. स्वामी ब्रह्मानन्द और सिद्ध साधु रंगस्वामी

उसी समय पूजनीय स्वामी ब्रह्मानन्द अपने दुमंजले के कमरे से नीचे उतरे और पूजनीय बाबूराम महाराज की बगल में बैठ गये। जैसे भ्रमर पद्मगन्ध के लोभ से आकृष्ट होकर अन्य पुष्पों को छोड़ पद्म पर ही आ बैठता है, उसी प्रकार पूजनीय ब्रह्मानन्द महाराज के, बाबूराम महाराज के बगल में आकर बैठते ही ज्ञान महाराज, अमूल्य महाराज, विश्वरंजन महाराज, धर्मानन्द महाराज, पूर्णानन्द महाराज, गोकुल महाराज, अविनाश महाराज आदि मठ के प्राय: सभी साधु-ब्रह्मचारी तथा भक्त, जिनकी संख्या कोई पचास-साठ रही होगी, इधर उधर से उस बरामदे में आ पहुँचे।

पूज्य महापुरुष महाराज भी आये और महाराज के सामने के दो खम्भों के बीच रखे छोटे बेंच पर पश्चिम की ओर मुख किये एकाकी बैठ गये। करीब पचास-साठ गैरिकधारी काम-कांचन-त्यागी संन्यासी, तप:पूत बाल-ब्रह्मचारी और कई भक्त – सभी लोग ब्रह्मानन्द महाराज के सामने, महापुरुष महाराज के दाहिने तथा बाँए अर्ध-वृत्ताकार कोई बेंच पर, कोई जमीन पर बैठ गये और कोई बैठने का स्थान न पाकर खड़ा है।

श्रीठाकुर के मानसपुत्र के सान्निध्य में सभी का मन स्थिर, शान्त और अन्तर्मुखी है। बाह्य प्रकृति भी उस समय स्थिर और निस्तब्ध है। ऊपर आकाश में ताराओं से वेष्ठित चन्द्रदेव विराजमान हैं और नीचे साधु-भक्तों की मण्डली से घिरे मण्डलाधिपति विराजमान हैं। पृथ्वी ध्यानमग्न है, मठभूमि निस्तब्ध है, सामने पतितपावनी गंगा प्रवाहित हो रही हैं, जिनके सामने बैठकर आर्य ऋषि ने भगवान का चिन्तन किया करते थे। आज रात उसी जाह्नवी के किनारे, नित्यसिद्ध ईश्वर-कोटि समाधिवान परमहंस-स्वभाव महापुरुष और विशुद्धात्मा सिद्ध साधकों का एकत्र समावेश कितना मधुर है ! कितना सुन्दर है यह दृश्य ! ध्यान के द्वारा ही उपभोग्य है, लिखकर नहीं बताया जा सकता ! यह दिव्य चित्र इस दीन लेखक के हृदयपट पर इतनी दृढ़तापूर्वक अंकित हुआ है कि लगभग तीस वर्ष बाद आज भी उस अलौकिक दृश्य का स्मरण कर उसका हृदय पुलकित, शरीर रोमांचित और नेत्र अश्रुसिक्त हो उठते हैं। यह दृश्य चिर-सुन्दर, चिर-अभिनव और चित्रित करने योग्य है। जिनके हृदय में यह चित्र अंकित है, वे सभी इस बात को स्वीकार करते हैं।

कहाँ तो वह काम-कांचन, स्वार्थ-द्वन्द्व, राग-द्वेष के कोलाहल से परिपूर्ण अशान्त मरुतप्त संसार, और कहाँ त्याग-वैराग्य, निःस्वार्थपरता तथा प्रेम-भक्ति के जीवन्त विग्रहों का जाह्नवी के तट पर एकत्र समावेश ! यही तो भूस्वर्ग है !

पुरीधाम में श्री शंकराचार्य द्वारा स्थापित गोवर्धन मठ के पुराने तथा नये महन्त की बातें, वहाँ के सिद्ध महात्मा स्वामी भूतानन्द की समाधि के ऊपर उनके शिष्य श्रीमान नगेन्द्रनाथ राहा द्वारा एक शिवलिंग की स्थापना और नित्यपूजा की व्यवस्था आदि पर चर्चा होने के बाद महाराज कहने लगे।

ब्रह्मानन्द महाराज – पुरीधाम में एक साधु को देखा है, आयु ९०-९५ वर्ष की रही होगी, महात्यागी थे, भगवान में खूब भक्ति-विश्वास था, प्रेम-भक्ति से गद्गद रहते, किसी के साथ ज्यादा मेलजोल नहीं रखते और कभी-कभी अटल बाबू के घर जाया करते थे। वे जगन्नाथ का प्रसाद छोड़कर अन्य कुछ नहीं खाते थे। यहाँ तक कि दूध तक ग्रहण नहीं करते थे। एक बार वे बीमार पड़े। दवा खाने के लिए मैंने उनसे बड़ा हठ किया, परन्तु वे किसी भी हालत में राजी नहीं हुए। वे दूध-बार्ली भी खाने को तैयार नहीं थे। आखिरकार श्रीजगन्नाथ को दूध का भोग देकर मैंने उसी में दवा मिलाकर उन्हें दिया, तभी – बड़ा प्रयास करने के बाद ही साधुजी ने उसे ग्रहण किया। उनका नाम था रंगस्वामी।

महापुरुष महाराज – हाँ, हाँ, मैं उन्हें जानता हूँ। मैं भी तो उस समय पुरी में ही था। पन्द्रह वर्ष की आयु में वे पुरी आये और एक-एक करके ८० वर्ष वहाँ बिता दिए। रंगस्वामी के समान साधु उस समय पुरी में दूसरा कोई देखने को नहीं मिला था। वे श्रीजगन्नाथ के मन्दिर में रहा करते थे।

ब्रह्मानन्द महाराज – जानते हो तारकदा, मैं पुरी में आया हूँ – यह सुनते ही, वे इतने वृद्ध थे कि कहीं आते-जाते नहीं थे, तो भी साधुजी दौड़ते हुए मेरे पास आते और मेरा आलिंगन करते। परन्तु अन्य किसी को स्पर्श तक नहीं करने देते थे। मुझे देखकर आनन्दपूर्वक कहते – आपके साथ मुझे बड़ा अच्छा लगता है, इसीलिए दौड़ा चला आता हूँ। वैसे साधु ही देखने को नहीं मिलते, जिनके साथ बातें करके आनन्द हो। आपको देखकर मन में बड़ी स्फूर्ति होती है। उन्होंने शायद दो-एक शिष्य भी बनाये थे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी निश्चयानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

इस अथक सेवा-तपस्या के भीतर निश्चयानन्द मानो स्वामीजी का प्रत्यक्ष सान्निध्य अनुभव किया करते थे। जीवमात्र में नारायण-बोध हुए बिना मनुष्य के हृदय में ऐसी अद्भुत निष्ठा भला कैसे स्थायी आसन बना सकती है – इस बात ने तत्कालीन साधु-समाज में काफी आलोड़न की सृष्टि कर दी थी। परन्तु अत्यन्त पुरातनपन्थी दशनामी साधु-सम्प्रदाय के लोग तब भी इन लोगों के प्रति घृणा का भाव रखते थे। जीवों के दु:ख-भोग के विषय में वे लोग कहते, "प्रारब्ध भोग करता है।" उन लोगों के अपूर्व 'वेदान्त' का भाव था – "जगत् तो तीनों काल में नहीं होता – हुआ नहीं, है नहीं और होने की सम्भावना भी नहीं है।" फिर वे उसी मुख से गृहस्थों पर अभिशाप की वर्षा करते हुए कहते, "रोटी खिलाओ तो खिलाओ, नहीं तो सिर फोड़ देंगे।" निश्चयानन्द या कल्याणानन्द के 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के भाव को वे लोग जरा भी समझने का प्रयास नहीं करते थे। ये वेदान्ती लोग इस सेवाकार्य की हँसी उड़ाते हुए उसे 'भंगी का काम' कहते। ये 'सर्व-कर्म-त्यागी' लोग यही सोचकर आत्मतृप्त थे, "विरजा होम कर लिया, तो अब कर्म समाप्त हो गये।" जिन दिनों कुसंस्कार से आच्छन्न ये पुरातनपन्थी लोग कट्टरता के वशीभूत होकर वेदान्त की इस प्रकार की अप-व्याख्या में ही व्यस्त थे – 'दाल-रोटी खाओ और मौज से रहो' – यही उन लोगों के संन्यास का आदर्श था; उन्हीं दिनों 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के मंत्र से अनुप्राणित स्वामीजी के दो त्यागी शिष्य उनके सम्मुख जीवरूपी ब्रह्म की सेवा में जान की बाजी लगा रहे थे – तत्कालीन परिप्रेक्ष्य से यह सचमुच ही एक विस्मयकर घटना थी। परन्तु उत्तराखण्ड के कोई-कोई विदग्ध संन्यासी स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित वेदान्त के व्यावहारिक जीवन में प्रयोग के आदर्श को प्रारम्भ से ही बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे – वस्तुत: उनके इस आदर के फलस्वरूप ही उत्तर-पश्चिमी भारत दशनामी संन्यासियों ने धीरे-धीरे स्वामीजी के भाव को स्वीकार करना सीखा था। इस प्रसंग में ऋषीकेश के कैलाश मठ के मण्डलेश्वर श्रीमत् स्वामी धनराज गिरिजी महाराज का नाम श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाना चाहिये।

धनराज गिरिजी ने अपने ऋषीकेश-निवास के दौरान एक दिन निश्चयानन्द को सादर कैलाश-मठ में बुलाया और उनके मुख से स्वामीजी द्वारा आदिष्ट सेवाकार्य का विवरण सुनकर अत्यन्त मुग्ध हुए। गिरिजी महाराज पहले से ही स्वामीजी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। उन्हीं के अनुरोध तथा व्यवस्था से निश्चयानन्द ने नित्य कैलाश-मठ में ही भिक्षा लेना आरम्भ किया। कहते हैं कि एक बार जब धनराज गिरिजी अपनी मण्डली के साथ कुछ दिनों के लिये अन्यत्र चले गये थे, तो जाते समय मठ के नये कोठारी को निर्देश दे गये थे, "कनखल से जो महात्मा नित्य साधुसेवा करने ऋषीकेश आते हैं, उन्हें सम्मानपूर्वक भोजन कराया जाय।" कैलाश मठ में सामान्यत: बाहर के किसी अपरिचित को भोजन कराने की प्रथा नहीं है। गिरिजी के अनुपस्थिति के दौरान निश्चयानन्द ने कैलाश-मठ में पहले दिन जाते ही समझ लिया कि कोठारी उन्हें पहचान नहीं सके हैं। वैसे उन्हें न पहचानना ही स्वाभाविक था, क्योंकि नंगे-पाँव निश्चयानन्द के दीन-हीन मलिन वस्त्र, फिर कन्धे पर दवाओं का एक टूटा बाक्स – यह सब देखकर भला कौन उनका सम्मान करता! कोठारी नये व्यक्ति थे, अत: उनका भी भला क्या दोष! उन्होंने कंगाल-वेषी साधु को बता दिया, "कैलाश में बाहर के साधु को भोजन कराने की व्यवस्था नहीं है।" निरभिमान निश्चयानन्द हँसी-खुशी लौट गये और काली कमलीवाले के क्षेत्र में भिक्षा ग्रहण किया। इसके बाद वे पुन: कैलाश-मठ नहीं गये। कुछ दिन बाद धनराज गिरिजी ने जब लौटकर सुना कि निश्चयानन्द कैलाश में भिक्षा लेने नहीं आते, तो उन्होंने कोठारी को कठोर भाषा में फटकार सुनायी। उन्होंने तत्काल कोठारी को आदेश दिया कि वह क्षेत्र के दरवाजे पर खड़े रहकर निश्चयानन्द को पहचान कर उन्हें कैलाश-मठ में ले आये। यथा आदेश कोठारी जाकर काली-कमलीवाले के क्षेत्र के दरवाजे पर जाकर प्रतीक्षा करते रहे। वहाँ निश्चयानन्द से भेंट होने पर उन्होंने उनके चरण स्पर्श करके अपनी भूल के लिये क्षमा माँगी। इस पर निश्चयानन्द बड़े ही संकुचित हुए। फिर कोठारी के अनुरोध पर वे पुन: कैलाश-मठ गये और उस दिन से पूर्ववत् कैलाश में ही भिक्षा ग्रहण करने लगे।

स्वामी तुरीयानन्द के प्रति निश्चयानन्द का विशेष आकर्षण था – इन ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष की वे अपने गुरुदेव के प्रतिनिधि के रूप में भक्ति किया करते थे। तुरीयानन्दजी जब उत्तरकाशी में तपस्या कर रहे थे, तब उनका दर्शन तथा संगलाभ पाने

हेतु और उनके साहचर्य में रहकर साधन-भजन करने के उद्देश्य से निश्चयानन्द भी उत्तरकाशी गये थे। यह १९०६ ई. के दौरान किसी समय की बात है। तुरीयानन्दजी तब उत्तरकाशी के उजेली अंचल में महात्मा देवीगिरिजी के आश्रम की एक कुटिया में रहकर तपस्या कर रहे थे। निश्चयानन्द कनखल से पैदल ही देहरादून जाकर मसूरी पहाड़ पार करके संकटपूर्ण पर्वती मार्ग की चढ़ाई-उतराई पार करते हुए तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में जा पहुँचे थे। उत्तरकाशी में गुरुतुल्य इन वरिष्ठ आचार्य के प्रत्यक्ष संस्पर्श से वैराग्यवान निश्चयानन्द के तपस्या का जीवन बड़े आनन्द में ही बीता था।

उत्तरकाशी की एक घटना तुरीयानन्दजी के साथ निश्चयानन्द के सम्पर्क तथा उनकी अपने गुरुदेव के प्रति प्रबल भक्ति-विश्वास की ही बात का स्मरण करा देती है। तुरीयानन्दजी उन दिनों केवल एक पतली चादर तथा कौपीन का उपयोग किया करते थे – इसके सिवा वे कोई दूसरी धोती, कुर्ता या चद्दर अपने पास नहीं रखते थे। एक दिन तुरीयानन्दजी गंगा में स्नान करने के बाद एक शिलाखण्ड पर बैठकर उस चादर को धो रहे थे – पास ही निश्चयानन्द भी स्नान कर रहे थे। चादर सहसा तुरीयानन्दजी के हाथ से छूटकर पानी में जा गिरी और तीव्र प्रवाह में बहकर जाने लगी। "अरे निश्चय, चादर गया, गया!" – तुरीयानन्दजी के इतना कहते ही निश्चयानन्द उस बरफ-जैसे ठण्डे पानी में कूद पड़े। जिन लोगों ने पहाड़ों में गंगाजी की प्रखर धार को देखा है, वे सहज ही अनुमान कर सकेंगे कि उस समय निश्चयानन्द की क्या हालत हुई होगी ! चादर की तो कोई बात ही नहीं, क्षण भर में ही जल के खिंचाव ने उन्हें न जाने कहाँ अदृश्य कर दिया। खण्डित पर्वत तथा शिलाओं से चोट खाते हुए निश्चयानन्द के अंग-प्रत्यंग से रक्त झरने लगा, पर चादर को तो वे निकाल ही लाये। तुरीयानन्दजी तट पर खड़े बड़े संकुचित हो गये थे। अस्तु, चादर के साथ निश्चयानन्द को पाकर उन्होंने निश्चिन्तता की साँस ली। उन्होंने इस दु:साहस के लिये थोड़ा डाँटते हुए कहा भी, "इस छोटी-सी चीज के लिये तुम प्राण देने गये थे।" घायल निश्चयानन्द ने निर्भीक चित्त से उत्तर दिया, "आपने कहा था – 'निश्चय, वह गया!' इस पर मैं स्थिर नहीं रह सका। मेरे पास रहते आपकी चादर चली जाय, यह कदापि नहीं हो सकता।" तुरीयानन्दजी शिष्य-तुल्य निश्चयानन्द का दृढ़-निश्चययुक्त मनोभाव देखकर आनन्दित हुए थे और उन्हें खूब आशीष भी दिया था। बेलूड़ मठ में हुई वैसी ही एक अन्य घटना का पहले उल्लेख हो चुका है। इन सब छोटी-छोटी घटनाओं के बीच निश्चयानन्द के भक्ति-विश्वास की गम्भीरता का आभास पाकर विस्मित रह जाना पड़ता है। १९२२ ई. में तुरीयानन्दजी की अन्तिम बीमारी के समय भी निश्चयानन्द उनका दर्शन किये बिना नहीं रह सके थे। वे कनखल से काशीधाम जाकर उनका अन्तिम दर्शन कर आये थे। सुदीर्घ तीस वर्षों के दौरान केवल ये दो बार ही वे कनखल से कहीं अन्यत्र गये थे।

सेवाप्राण निश्चयानन्द का जीवन कर्म तथा ध्यान के समन्वय से गठित था। बाहर से उन्हें देखकर लगता कि वे एक महा कर्मवीर हैं – जीवसेवा के प्रति सर्वतो-भावेन समर्पित एक आदर्श कर्मयोगी हैं। सेवाश्रम के सह-प्रमुख होकर भी वे जीवन भर दिन-रात जैसा कठोर परिश्रम करते रहते थे, उसे आपात् दृष्टि से देखने पर वैसा ही समझना स्वाभाविक है। भवन-निर्माण की देखरेख, उद्यान की देखभाल, सेवाश्रम का हिसाब-किताब रखना, रोगी-नारायण की सेवा-चिकित्सा आदि विभिन्न कार्यों में वे सुबह से लेकर देर रात तक व्यस्त रहते थे। परन्तु निश्चयानन्द का परिचय केवल इतना मात्र ही नहीं है – वे एक ध्यानी और जापक भी थे। काम पूरा हो जाने पर गहरी रात के समय निश्चयानन्द ध्यान-तन्मय योगी हो जाते। **या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी** – (जो समस्त प्राणियों के लिये रात है, संयमी व्यक्ति उसमें जागता रहता है) – गीता का यह आदर्श ही उनके जीवन में अभिव्यक्त हुआ करता था। एक बार 'वचनामृत'कार श्रीम या मास्टर महाशय कनखल सेवाश्रम में रहकर साधन-भजन कर रहे थे। निश्चयानन्द के स्वभाव से वे तब भी अधिक परिचित नहीं हो सके थे। इसीलिये एक दिन कह उठे, "देखो निश्चय, ठाकुर कहा करते थे कि ईश्वर-प्राप्ति ही साधु-जीवन का उद्देश्य है। केवल कर्म करना ही साधु-जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं है।" भगवान श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग के मुख से यह बात सुनकर निश्चयानन्द मौन रह गये। मास्टर महाशय ने और भी दो-एक बार इसी प्रकार उन्हें इस बात का स्मरण करा दिया था। मास्टर महाशय ने जब एक दिन तीसरी बार वही बात कही, तो निश्चयानन्द अपने आँसू नहीं रोक सके। उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "देखिये, मैं स्वामीजी का गुलाम हूँ। साधन-भजन आदि कुछ भी नहीं जानता। उनका कार्य करना ही मेरा जीवन-व्रत है।" निश्चयानन्द की अतुलनीय गुरुभक्ति देखकर श्रीम ने मुग्ध होकर कहा था, "तुम्हें साधन-भजन आदि कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। गुरुकृपा से ही तुम्हारा सब हो जायगा।" मास्टर महाशय ने क्रमश: उनका सम्यक् परिचय पाकर तथा प्रत्यक्ष देखकर अपने पूर्वोक्त उपदेश के लिये अनुताप का बोध किया था। परवर्ती काल में मास्टर महाशय निश्चयानन्द के अनवद्य कर्म तथा साधना की बात को दृष्टान्त के रूप में बहुत-से लोगों को बताया करते थे। कल्याणानन्द तथा निश्चयानन्द का प्रसंग उठने पर वे उनकी तुलना देववैद्य अश्विनीकुमारों के साथ किया करते थे।

निश्चयानन्द की विश्वास-भक्ति, विचार-दृष्टि तथा भाव

आसपास के सभी लोगों के लिये सचमुच ही प्रेरणादायी था। सेवाश्रम के विभिन्न उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में वे सर्वदा व्यस्त रहते, पर उसके बीच भी किसी अनाथ, दीन-दुखी को देखने पर वे उनके प्रति परम आत्मीयता के बोध से उसकी सेवा में लग जाते। मोची, मेहतर या भंगी की भी वे जिस प्रकार अपने हाथ से बड़ी श्रद्धा के साथ सेवा करते, वह एक देखने की वस्तु थी। स्वयं ही तम्बाकू सजाकर उन्हें पिलाते, मानो वे लोग कितने सम्भ्रान्त व्यक्ति हैं! स्वामीजी की 'दरिद्र देवो भव' वाणी ने मानो उनके जीवन में साकार रूप धारण कर लिया था। कर्म तो अनेक लोग करते हैं, परन्तु कितने लोग कर्म को इष्टबुद्धि से देख पाते हैं? कनखल सेवाश्रम के नवीन साधु-कर्मियों को सम्बोधित करके निश्चयानन्द कहा करते, "सेवाश्रम की एक-एक ईंट मेरे सीने का पंजर है, मानो ठाकुर-स्वामीजी का स्वरूप है। ठाकुर-स्वामीजी यहाँ ओतप्रोत होकर विराजमान हैं। इसीलिये तुम लोगों के कुछ नष्ट करने पर या लापरवाही दिखाने पर मेरे हृदय को बड़ी चोट लगती है।" उनकी सादगीपूर्ण जीवनधारा में कठोरता होने के बावजूद शुष्कता नहीं थी। बल्कि उसका सूक्ष्म रूप से निरीक्षण करने पर उसमें एक सहज माधुर्य दिखायी देती थी। रस्सी की खाट के ऊपर एक कम्बल – यही उनकी शय्या का उपकरण था। वैसे रात को उन्हें लेटने की आवश्यकता कम ही पड़ती – अधिकांश समय जप-ध्यान आदि में ही बिताते थे। खाट में भी सैकड़ों खटमलों ने आश्रय ले रखा था, परन्तु आश्रितवत्सल निश्चयानन्द ने उनमें से एक को भी कभी निराश्रय नहीं किया। रात में वे कभी मच्छरदानी का उपयोग नहीं करते थे, सारी रात असंख्य मच्छरों को रक्तदान करके उनकी सेवा किया करते थे।

यहाँ स्मरणीय है कि निश्चयानन्द अपने साधु-जीवन के प्रारम्भ से ही सादगीपूर्ण त्याग-तपस्यामय जीवन बिताया करते थे। बेलूड़ ग्राम के बड़े-बड़े मच्छरों द्वारा शरीर को क्षत-विक्षत कर देने पर भी वे मठ में कभी मच्छरदानी या किसी प्रकार की आच्छादनी का उपयोग नहीं करते थे। एक बार उनके बिस्तर पर रक्त का चिह्न देखकर स्वामीजी ने उन्हें इतनी अधिक कठोरता के लिये डाँटा भी था। उस दिन उत्तर में निश्चयानन्द ने हाथ जोड़कर विनीत भाव से कहा था, "स्वामीजी, मैं तो भोग करने नहीं, त्याग करने के लिये ही तो आया हूँ।" वैराग्यवान शिष्य का हृदय समझकर स्वामीजी ने उस समय स्नेहपूर्वक कहा था, "ठीक है, तो अभी ऐसा ही चले। परन्तु आवश्यकता होने पर मच्छरदानी का उपयोग करना और पौष्टिक भोजन भी ग्रहण करना।" अपने अन्तिम दिनों में अस्वस्थ होने के बावजूद निश्चयानन्द ने अपनी उस कठोर जीवनचर्या को नहीं छोड़ा। चिकित्सकों के अनुरोध का भी कोई फल नहीं हुआ। आखिरकार गुरुभाई कल्याणानन्द द्वारा स्वामीजी के निर्देश का स्मरण कराने पर वे थोड़े नरम हुए थे और अपने महाप्रयाण के केवल कुछ दिन पूर्व से मच्छरदानी तथा पौष्टिक आहार का उपयोग शुरू किया था। उनकी यह शिथिलता भी अपने लिये नहीं, अपितु स्वामीजी के आदेश-पालन-रूपी तपस्या के लिये थी।

प्रतिदिन सुबह शय्यात्याग के समय वे एक गमछे से मुँह ढककर बाहर निकलते और सीधे स्वामीजी के चित्र के समक्ष जाकर हाथ जोड़े खड़े होकर उन्हें प्रणाम करते। स्वामीजी का दर्शन करने के बाद ही वे अपने मुख का आवरण हटाते तथा अन्य कोई कार्य आरम्भ करते। अर्थात् निश्चयानन्द की दृष्टि में पहले स्वामीजी थे, उसके बाद ही उनका कार्य था – पहले ईश्वर फिर जगत्; उनमें यही भाव दृढ़बद्ध था।

आयु के हिसाब से निश्चयानन्द कल्याणानन्द की अपेक्षा कई साल बड़े थे, परन्तु वे कल्याणानन्द को ही ज्येष्ठ भ्राता के रूप में सम्मान देते थे। दोनों गुरुभाइयों का सम्पर्क कितना मधुर था, यह उस काल में जिन लोगों ने देखा है, वे ही समझ सके हैं। हरिद्वार-ऋषीकेश अंचल में सभी लोग कल्याणानन्द तथा निश्चयानन्द को 'बड़े स्वामी' तथा 'छोटे स्वामी' के रूप में जानते थे।

अत्यधिक परिश्रम तथा कठोरता के फलस्वरूप निश्चयानन्द का स्वास्थ्य क्रमशः टूट रहा था। तथापि वे किसी भी साधु-ब्रह्मचारी की सेवा नहीं लेते थे। आखिरकार १९३२ ई. के वर्षाकाल में वे बड़े अस्वस्थ हो गये। चिकित्सकों ने परीक्षा करके घोषणा की कि उन्हें गैस्ट्रिक अल्सर (आँतों में घाव) है। उन दिनों कल्याणानन्द भी कुछ दिनों के लिये मायावती गये हुए थे, इसीलिये सेवाश्रम का सारा कार्यभार भी निश्चयानन्द ही चला रहे थे। उनकी व्याधि की जटिलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी, तो भी निश्चयानन्द ने 'स्वामीजी के कर्म' से स्वेच्छापूर्वक छुट्टी नहीं ली। देहत्याग के दो सप्ताह पूर्व भी एक एक मोटे कम्बल से पाँवों को ढके हुए बैठकर सेवाश्रम का हिसाब-किताब देख रहे थे। यदि कोई शिकायत करता कि आप बीमार होकर भी विश्राम नहीं ले रहे हैं, तो वे हँसते हुए कहते, "यह तो ठाकुर की सेवा है। स्वामीजी का कार्य है। हम लोगों का अब भी सारा कर्म क्षय नहीं हुआ है। मिट्टी – कीचड़ की अवस्था में रहे तो पूरा नहीं छूटता, परन्तु सूख जाने पर सब अपने आप ही निकल जायगा।" हिसाब-किताब रखने के प्रसंग में एक छोटी-सी घटना यहाँ स्मरणीय है। आश्रम के कोष में एक दिन एक अधेला या आधा पैसा अधिक निकला। निश्चयानन्द हिसाब रखनेवाले साधु से हर महीने उस अधेले का हिसाब पूछा करते थे।

स्वामी निश्चयानन्द के जीवन में संन्यासोचित गुणों का विकास इतने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त था कि कनखल-सेवाश्रम के उनके सहकारी तरुण साधुगण भी इस स्वाभाविक

कारण से ही उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह पाते थे। इसीलिये उन सभी साधुओं की परवर्ती जीवन की स्मृतियों में हम निश्चयानन्द को एक विशेष श्रद्धान्वित आसन पर विराजमान देख पाते हैं। एक वरिष्ठ साधु के संस्मरण इस प्रकार हैं –

"छोटे स्वामीजी (निश्चयानन्द) स्वयं जैसे सरल तथा स्पष्टवादी थे, हम लोगों से भी वैसी ही स्पष्टवादिता पसन्द करते थे। बहुत-से लोग ऐसे हैं, जिनकी विशेष प्रतिष्ठा तथा क्षमता है, वे स्वयं तो खूब स्पष्ट बातें बोल सकते हैं, दूसरों को तत्काल सुना देते हैं, परन्तु वे अन्य किसी की जरा-सी भी स्पष्टोक्ति को सहन कर सकें – ऐसे कितने लोग देखने में आते हैं? एक बार उन्होंने किसी प्रसंग में नाराज होकर मुझे खूब डाँटा था। किसी अन्य ने मेरे विषय में उनसे कुछ शिकायत की थी। मैं मुख बन्द करके काफी देर तक वह सब सुनता रहा। फिर उनका डाँटना पूरा हो जाने के बाद मैंने स्वाभिमानपूर्वक धीरे-धीरे कहा, 'आपने मुझे इतना डाँटा ! परन्तु महाराज, इस विषय में मैं जरा भी दोषी नहीं हूँ।' मेरी इस स्पष्ट उक्ति पर वे भी बोले, 'तो फिर वास्तविक घटना क्या हुई, यह तुम्हीं बताओ।' तब मैंने सारी बातें खोलकर बता दीं। इस पर वे तत्काल मुझसे बोले, 'ठीक है, सब समझ गया। मुझे जो कुछ बोलना था, वह मैंने बोल दिया है, तुमने भी सब कह दिया है। तुमको मैंने समझा, मुझको भी तुमने समझा। बस, तो फिर अब यह सब मन में रखने की क्या जरूरत? मन में रखना ही क्यों होगा? मन में तो रखना होगा एकमात्र भगवान को – स्वामीजी को।' "

बीमारी की अवस्था में भी निश्चयानन्द को होनेवाली विभिन्न प्रकार के अलौकिक अनुभूतियाँ तथा दिव्य दर्शन उनके साधु-सेवकों को विस्मित कर दिया करती थीं। एक बार उन्होंने सेवाश्रम के सभी साधु-ब्रह्मचारियों को बुलाकर कहा, "आज मेरे चारों ओर अच्छी तरह धूप-धूना दे दो। और बाहर के उस बड़े भवन (यक्ष्मा विभाग) के सामने की जमीन पर कुर्सी सजाकर रख दो – वहाँ भी धूपधूना देना। सेवाश्रम में आज मेरे गुरुदेव आयेंगे – मैं उनका दर्शन करने जाऊँगा।" सहसा इस प्रकार की उक्तियों से लोग बड़े विचलित हुए – सोचा कि हो सकता है कि यह उनके देहत्याग की सूचना हो सकती है। एक अज्ञात आशंका के साथ सभी साधु-सेवकगण आकर उनके कमरे में एकत्र हुए। निश्चयानन्द ने समागत सभी साधुओं को हाथ जोड़कर नमस्कार किया। थोड़ी देर बाद वे पुन: बोले, "मुझे ले चलो, अब ले चलो। बाहर जहाँ कुर्सी रखी है, वहीं ले चलो। स्वामीजी वहाँ आकर मेरे लिये बैठे हैं।" आखिरकार सेवकगण उन्हें सहारा देकर धीरे-धीरे वहाँ ले गये। कुर्सी के पास पहुँचते ही उन्होंने भूमि पर दण्डवत लेटकर प्रणाम किया। थोड़ी देर तक उसी भाव में रहने के बाद वे उठकर बैठे और ध्यान में डूब गये। इसी प्रकार काफी समय बीत जाने के बाद, वे आँखें मलते हुए बोले, "स्वामीजी चले गये। अब मैं कमरे में जाऊँगा।" सेवकगण उन्हें पुन: कमरे में लौटा लाये। यह १९३४ ई. के किसी समय की घटना है।

उसी वर्ष के अक्तूबर में उनकी शारीरिक दशा बड़ी गम्भीर हो गयी। तथापि स्वाधीनचेता स्वावलम्बी संन्यासी मल-मूत्र त्याग के लिये स्वयं ही उठा करते थे – बिना किसी की सहायता लिये दीवार के सहारे चलते हुए शौचालय तक जाते थे। ऐसी अवस्था में भी एक दिन रात को दो-ढाई बजे वे हड़बड़ा कर बिस्तर से उठे और एक कम्बल हाथ में लेकर तेजी से आम के पेड़ की ओर चल दिये। गहरी रात के समय हड़बड़ा कर उठने की आवाज से सेवकगण भी जाग गये थे और उनके पीछे-पीछे चल रहे थे, परन्तु किसी को भी उन्हें पकड़ने या रोकने का साहस नहीं हो रहा था। सहसा वे चिल्ला उठे, "कुर्सी लाओ, कुर्सी लाओ ! स्वामीजी आये हैं !" यह सुनकर एक सेवक एक कुर्सी लेकर अन्धकार में ही उनके पीछे दौड़ पड़े। निश्चयानन्द ने अपने हाथ के कम्बल को आम के पेड़ के नीचे बिछा दिया और उसके ऊपर अपनी चादर बिछाने के बाद वे धरती पर लोटकर साष्टांग प्रणाम करने लगे। उनके मुख से केवल यही निकल रहा था, "थोड़ा ठहरिये, प्रणाम कर लूँ।" इसी प्रकार उन्हें भूमि पर पड़े करीब पन्द्रह मिनट बीत गये, तो भी उन्हें न उठते देखकर स्वामी जगदानन्द ने पास के ही एक सेवक से कहा, "क्या कर रहे हो तुम लोग? इन्हें धीरे-धीरे उठाओ और कमरे में ले जाओ।" सेवकगण उन्हें पकड़कर ले गये और कमरे में सुला दिया। अगले दिन लगभग दस बजे तक वे उसी भाव में बिस्तर पर पड़े रहे। बाद में जब वे उठे, तो सारे दिन इतना गम्भीर भाव धारण किये रहे कि किसी को कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ। शाम के समय स्वामी जगदानन्द ने पूछा, "क्या बात है? आप ऐसे अस्वस्थ हैं, डॉक्टर ने आपको बिस्तर से उतरने से मना किया है और आप उतरते भी नहीं। अचानक यह क्या हो गया?" निश्चयानन्द ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "मैं इतना बीमार हूँ, कष्ट पा रहा हूँ – इसीलिये तो स्वामीजी मुझे देखने आये थे। मेरे बिस्तर के पास आकर वे मुझे देख रहे थे। मैं उन्हें प्रणाम करने के लिये उठकर खड़ा हो रहा था, पर वे बोले, 'रहने दे, अब मैं चलता हूँ।' इतना कहकर स्वामीजी चले जा रहे थे और मैं भी उनके पीछे बिना दौड़े न रह सका। आखिरकार वहीं पर पहुँचकर उन्हें पकड़ने में सफल हुआ। मैं उनके दोनों चरण पकड़े हुए जी भर कर प्रणाम कर रहा था। मैं भला उनके चरण स्पर्श किये बिना कैसे रह सकता था? इसीलिये मैं बिस्तर से उतरे बिना नहीं रह सका।"

आखिरकार अक्तूबर महीने के मध्य में निश्चयानन्द को

शय्या ग्रहण करना पड़ा और यही उनकी अन्तिम शय्या थी। एक दिन कल्याणानन्द अपने प्राणों से प्रिय गुरुभाई की पीड़ा से द्रवित होकर रोते हुए बोले, ''भाई निश्चय, ठाकुर की कृपा से तुम स्वस्थ हो जाओ।'' परवर्ती काल में एक सेवक ने उस समय का चित्र इन शब्दों में लिपिबद्ध किया है, ''शरीर छूटने के चार-पाँच दिन पूर्व वे बिस्तर पर लेटे हुए थे। सेवक उनके कपड़े आदि धोने के लिये दूसरे भवन में गया हुआ था। उस समय नौ या साढ़े नौ बजे होंगे। सूचना गयी कि छोटे स्वामीजी* बुला रहे हैं। सेवक ने दौड़ते हुए आकर देखा कि वे लेटे हुए हैं। सेवक को देखते ही वे बोले, 'मेरे सामने तीन कुर्सियाँ सजाकर रखो। धूपबत्तियाँ जला दो और मुझे बिस्तर पर बैठा दो।' सेवक ने वैसा ही किया। इसके साथ ही पूरे आश्रम में यह समाचार फैल गया। कल्याणानन्द आदि सभी संन्यासी तथा ब्रह्मचारी उनके कमरे में उपस्थित हुए। 'छोटे स्वामीजी' ने अपने बिस्तर पर बैठे हुए ही सर्वप्रथम तीनों कुर्सियों की ओर हाथ जोड़कर तीन बार प्रणाम किया। उसके बाद दीवार पर लगे हुए स्वामीजी के ध्यानमूर्ति वाले चित्र को प्रणाम किया और आँखें मूँदकर ध्यान करने लगे। इसी प्रकार पाँच-सात मिनट बीत गये। इसके बाद वे फिर लेट गये।

''इसके बाद पहले के समान ही दिन बीतने लगे। कल्याण महाराज द्वारा इस प्रकार कुर्सियों को सजाने की बात पूछने पर उन्होंने कहा था, 'ठाकुर, माँ और स्वामीजी मुझे देखने आये थे – उनके लिये आसन लगवा दिया था।' ''

२२ अक्तूबर १९३४ ई. को कोजागरी पूर्णिमा का दिन था। निश्चयानन्द दीवार पर रखी स्वामीजी की ध्यानमूर्ति की ओर अपलक दृष्टि से देख रहे थे – उनके उज्ज्वल नेत्रों की पलकों में जरा भी स्पन्दन न था। उन्होंने पास में स्थित सेवक को ठाकुर का चरणामृत लाने का निर्देश दिया। उसे लाकर उन्हें तीन बार पिलाया गया। उस समय सुबह के दस बजे थे। दोपहर के समय वे सहसा सेवक को बारम्बार संकेत करने लगे कि वह उन्हें उठाकर बैठा दे। तकिया आदि का सहारा देकर बैठाने की व्यवस्था करने के बाद उन्हें उठाकर बैठा दिया गया। वे स्वामीजी के चित्र की ओर हाथ बढ़ाकर कुछ कहने का प्रयास कर रहे थे, अत: चित्र को दीवाल से उतारकर एक तकिये के ऊपर स्थापित कर दिया गया। श्री गुरुदेव के चित्र को अपने सीने के पास रखकर निश्चयानन्द ध्यान के आसन में बैठ गये – यह ध्यान ही उनकी महासमाधि में परिणत हुआ। उस ध्यान से वे वापस नहीं लौटे। उस समय दोपहर का समय बीत चुका था। परमप्रिय सहचर की महायात्रा के समय कल्याणानन्द ने नीरव अश्रुओं से श्रद्धांजलि दी। सैनिक निश्चयानन्द ने अपने सेनापति विवेकानन्द के आह्वान पर अनन्त काल के लिये परलोक के लिये प्रयाण किया।

स्वामी कल्याणानन्द ने अपने प्राणप्रिय सहयोगी को खोने के बाद कहा था, ''सुदीर्घ तीस वर्षों के दौरान एक दिन का भी विश्राम न लेकर जीवन के अन्तिम दिन तक सेवा करने वाले व्यक्ति पृथ्वी के इतिहास में अत्यन्त दुर्लभ हैं। गीता में निष्काम कर्म के विषय में लिखा है – ''**मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि** – न तुम्हारी कर्मों के फल में आसक्ति हो और न ही तुम्हारा अकर्म के प्रति मोह हो।'' निश्चयानन्द का जीवन इसी का एक उत्कृष्ट दृष्टान्त था। उनकी मृत्यु भी उसी प्रकार पद्मासन में ध्यान करते-करते ही हुई थी।''

स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित सेवाधर्म के द्वारा एक जीवन में ही ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म का समन्वय कर पाना सम्भव है और उसी के फलस्वरूप मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के कितने उच्च स्तर तक पहुँच सकता है, स्वामी निश्चयानन्द अपनी साधना के द्वारा यही दिखा गये हैं। मनीषी महेन्द्रनाथ दत्त ने अपनी बँगला पुस्तिका 'स्वामी निश्चयानन्देर अनुध्यान' की भूमिका में लिखा है,

''कहा गया है कि पुरा काल में दधीचि मुनि ने अपनी अस्थियाँ देकर देवताओं का हित सिद्ध किया था – रामकृष्ण मिशन के इन समस्त कर्मियों ने भी ईंटों की जगह अपने अस्थि-कंकाल लगाकर, सुर्खी-चूने की जगह अपनी मज्जा लगाकर और पानी की जगह अपने हृदय तथा शरीर का तप्त खून लगाकर रामकृष्ण मिशन रूपी भवन का निर्माण किया था। यदि निरपेक्ष भाव से मूल्यांकन किया जाय, तो स्वामीजी द्वारा अनुप्राणित ये सभी नर-नारायण के सेवक पुरा काल के दधीचि मुनि से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होंगे।'' ❑❑❑

* कनखल सेवाश्रम के सभी लोग निश्चयानन्दजी को 'छोटे स्वामीजी' और कल्याणानन्दजी को 'बड़े स्वामीजी' कहकर पुकारते थे।

कुछ लोगों से सावधान रहना पड़ता है। पहला, बड़े आदमी। वे चाहें तो तुम्हें नुकसान पहुँचा सकते हैं, क्योंकि उनके पास बहुत धन, जन और सामर्थ्य है। इसलिए कभी-कभी वे जो कुछ कहें उनकी हाँ-में-हाँ मिलाना पड़ता है। दूसरा, साँड़। सींग मारने आए, तो पुचकारते हुए उसे ठण्डा करना पड़ता है। तीसरा, कुत्ता। जब भौंकता हुआ काटने दौड़ता है, तो ठहरकर उसे भी पुचकारते हुए शान्त करना होगा। चौथा, शराबी। उसे यदि छेड़ दो तो 'तेरी ऐसी की तैसी' कहते हुए तुम्हारी चौदह पीढ़ियों को गालियाँ देगा। पर उससे अगर प्रेम से कहो, ''क्यों चाचा, कैसे हो?'' तो खुश होकर तुम्हारे पास बैठ कर खूब बातचीत करने लगेगा। – ***श्रीरामकृष्ण***

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२१७. क्रोध शत्रु से कैसे लड़ना !

एक बार बलराम, श्रीकृष्ण और सात्यकी सैनिकों के साथ बीहड़ वन में शिकार खेलने गए। रात हो गई और वे सैनिकों से बिछुड़ गए। उन्होंने एक घने वृक्ष के नीचे रात बिताने का निश्चय किया। तय हुआ कि पहले पहर में सात्यकी, दूसरे पहर में बलराम और तीसरे में कृष्ण पहरा देंगे और अन्य दो सोते रहेंगे।

पहले प्रहर में जब कृष्ण और बलराम निद्रित थे, तभी वहाँ सहसा एक विशाल राक्षस प्रकट हुआ और सात्यकी से बोला, ''यदि तुम मुझे इन दोनों को खा लेने दोगे, तो तुम्हें छोड़ दूँगा।'' सात्यकी ने क्रोधित होकर कहा, ''इन्हें खाने से पहले मुझे अपना पराक्रम दिखा।'' दोनों में द्वन्द युद्ध हुआ। सात्यकी का क्रोध ज्यों-ज्यों बढ़ा, त्यों-त्यों राक्षस का आकार व बल बढ़ता गया। काफी चोटें खाकर भी सात्यकी राक्षस को हरा नहीं सके। दूसरा प्रहर होते ही वह राक्षस लुप्त हो गया। सात्यकी ने बलराम को जगाया और स्वयं सो गये।

बलराम के पहरा देते ही राक्षस पुन: प्रकट हुआ। उसने बलराम से भी, सो रहे दोनों साथियों को अपना आहार बनाने की इच्छा व्यक्त की। बलराम को भी गुस्सा आया। दोनों में युद्ध हुआ, पर राक्षस के बढ़ते आकार एवं बल के सामने वे भी हतप्रभ रह गये। दूसरा प्रहर समाप्त होते ही राक्षस लुप्त हो गया और वे भी चुपचाप सो गये।

अब श्रीकृष्ण को पहरा देते देख राक्षस पुन: प्रकट होकर उसने दोनों को खाकर भूख मिटाने की इच्छा प्रकट की। इस पर श्रीकृष्ण हँसकर बोले, ''अच्छा हुआ, तुम आ गये। चलो, तुम्हारे साथ द्वंदयुद्ध करने से यह प्रहर कब समाप्त हुआ, पता ही नहीं चलेगा।'' अब राक्षस नाराज हो गया। वह गुस्से के मारे ज्यों-ज्यों कृष्ण पर प्रहार करता, वे उसका हँसकर जवाब देते। क्रमश: राक्षस का आकार एवं बल क्षीण होते गये। जब वह एक छोटे कीड़े के आकार का हो गया, तो उन्होंने उसे अपने पीत वस्त्र के एक छोर में बाँध लिया।

तीन प्रहर समाप्त होते ही श्रीकृष्ण ने सात्यकी और बलराम को जगाया। उन्हें घायल देखकर जब कारण पूछा, तो उन्होंने रात्रि में राक्षस के साथ हुए द्वन्दयुद्ध की बात बताई। तब श्रीकृष्ण ने वस्त्र में बँधे गाँठ को खोलकर राक्षस रूपी कीड़े को दिखाकर कहा, इसके साथ मेरा भी युद्ध हुआ था। यह वस्तुत: राक्षस नहीं क्रोध है। आप लोग जब क्रुद्ध हो इससे मुकाबला करते थे, तब इसका आकार बढ़ जाता था। इसीलिये आप लोग इसे पराजित नहीं कर सके। क्रोध का उत्तर क्रोध से नहीं, मुस्कुराहट से दिया जाता है। यदि आपने भी अपने क्रोध पर नियंत्रण रखा होता, तो आपकी ऐसी दुर्गति न होती। क्रोध वस्तुत: एक आवेगजन्य दोष है। इसका आवेग आने पर हम दूसरे को तुच्छ समझने लगते हैं। यह अहंकारजन्य दोष है। इससे हमारी चेतना लुप्त हो जाती है और हमारी शक्ति नष्ट हो जाती है। इससे पार पाने का एक ही उपाय है – क्रोध का अक्रोध से प्रतिकार करना। मैंने वही किया और उसे अपने वश में कर लिया।

२१८. कलियुग के लक्षण

राजा परीक्षित जब दिग्विजय पर निकले, तो उन्हें दो व्यक्ति दु:खी और चिन्तित दिखाई दिये। वे कौन हैं और क्यों व्यथित हैं – यह पूछने पर उन्होंने स्वयं को पृथ्वी व धर्म बताया। पृथ्वी ने राजा से कहा, ''द्वापर युग समाप्त हुआ है और कलियुग प्रारम्भ हो चुका है। सर्वत्र अनर्थ और अत्याचार दिखाई देने से हम दु:ख के मारे विह्वल हो गये हैं।''

यह कहकर वे दोनों अदृश्य हो गये। आगे बढ़ने पर राजा को एक व्यक्ति मिला, जो एक गाय और एक बैल को पीट रहा था। कारण पूछने पर वह बोला, ''मैं कलि हूँ, मुझे अपना काम करने दो।'' राजा ने कहा, ''मेरे रहते तुम निरीह प्राणियों को मारने की धृष्टता नहीं कर सकते।'' कलि बोला, ''तुम्हें जो भी करना हो, वह बाद की बात है। पहले मेरी बात सुनो। मेरा युग अनर्थ और अनाचार का युग है। इस युग में लोग मर्यादा को छोड़कर जो चाहे, सो करेंगे। सर्वत्र हिंसा और अराजकता का ताण्डव मचेगा। भाई-भाई और कुटुम्बियों तक में आपसी कलह होगा। लोग मद्य-मांस का सेवन कर अनुचित कर्मों में प्रवृत्त होंगे। लोग तरह-तरह के रोगों से ग्रस्त हो अल्पायु में काल-कवलित होंगे।'' परीक्षित ने कलि को रोकते हुए कहा, ''बहुत हुआ। इन सबसे मुक्ति का एक उपाय है और वह है तुम्हारी हत्या।'' कलि ने कहा, ''मुझे तुमने पूरा बोलने नहीं दिया। स्वेच्छा और मनमानी वे करते हैं, जो ईश्वर-विमुख होते हैं। जो व्यक्ति भगवान का नाम-स्मरण, पूजा-उपासना, भजन-कीर्तन करेगा; उसे दुख-क्लेश और विपत्तियाँ कभी विचलित नहीं करेंगी। वह हर तरह की आसक्तियों से मुक्त रहेगा – **कीर्तनादेव कृष्णस्य युक्तसंगः परं व्रजेत।** यह कहकर कलि अदृश्य हो गया। परीक्षित को कलियुग की भयावह परिकल्पना जान कर बड़ा दुख हुआ। उन्होंने संकल्प लिया कि वे प्रजा को दुराचार एवं कुमार्ग पर जाने से रोकने का प्रयास करते रहेंगे। ❑❑❑

कर्मयोग – एक चिन्तन (६)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

शास्त्र और सभी महापुरुष हमें ये बताते हैं कि आज तुम जो हो, जहाँ थे, जैसे हो वह तुम्हारे गतजन्म और इस जन्म के कर्मों का परिणाम है। पूर्वजन्म और आगामी जन्म दोनों को मिलाकर पुनर्जन्म का सिद्धान्त बनता है। हमलोगों का कोई एक ही जन्म नहीं हुआ है – **'लख चौरासी फेरा फिरकर नर तन पाया'** – पुराणों के अनुसार चौरासी लाख योनियों में घुमने के बाद यह मनुष्य जन्म हमें मिला। तो इसके पूर्व हमारे कितने जन्म हुए ! सिवाय ईश्वर के इसे दूसरा कोई नहीं जानता है। हमारे पूर्वजन्मों के कर्म का जो फल है, उसके कारण आज हम फँसे हैं। हमारा शरीर, मन, रूप-रंग, संपत्ति जो कुछ भी है, वे सब हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों के ही परिणाम हैं।

शास्त्रों में कर्म के तीन प्रकार बताए गये हैं। कर्म माने कर्ता और भोक्ता। जो व्यक्ति भोग की इच्छा रखेगा, उसे भोग प्राप्ति के लिये कुछ-न-कुछ कर्म करना ही पड़ेगा इसलिये वह भोक्ता के साथ अपने आप ही कर्ता भी हो जायेगा।

शाास्त्रानुसार तीन प्रकार के कर्म हैं – संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्म। इन शब्दों को बहुत सामान्य दृष्टि से हम व्यवहार में उपयोग करते हैं, किन्तु शब्दों के अर्थों पर हम गंभीरता से विचार नहीं करते।

पूर्वजन्म का हमारे कर्मों से सम्बन्ध है। कर्मयोग पर विचार करने के पूर्व कर्म क्या है, इस पर हमने कल संक्षेप में विचार किया था। हमारे जीवन में केवल कर्म से चित्त की स्थिरता या ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जीवन में परमशान्ति और परमसुख की प्राप्ति केवल कर्म से नहीं मिल सकती है। हमें शान्ति मिलेगी कर्मयोग से।

कर्मयोग समझने के लिये हमें कर्म के कुछ मौलिक सिद्धान्तों को जानना आवश्यक है। उनको जाने बिना हम अपने जीवन के कर्मों को योग नहीं बना सकते। जीवन के कर्मों को योग अगर नहीं बना सकेंगे, तो हमारा कर्म भोग होगा, जिसे हम चाहें या न चाहें, हमें भोगना पड़ेगा। इसी सन्दर्भ में पुनर्जन्म के सिद्धान्त की थोड़ी चर्चा हमने की थी।

आध्यात्मिक जीवन बिताने वाले लोगों के मन में भी कई बार यह संदेह आता है कि पुर्नजन्म है या नहीं। यदि होता भी है, तो क्या उसका कोई प्रमाण है? हमने यह चर्चा की थी कि कि प्रत्येक कर्म का फल होता है। संसार में कोई भी कर्म ऐसा नहीं है कि जिसका फल या परिणाम न हो।

हमारे जन्म का कोई कारण तो अवश्य होगा। इस विश्वब्रह्माण्ड में कार्य-कारण का अपरिहार्य सम्बन्ध है। बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि बिना कारण या शून्य से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शून्य से आप कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकते। यह भले ही संभव है कि कार्य दिख रहा हो और उसका कारण हमें ज्ञात न हो। गाँव में रहने वाला हमारा कोई आदिवासी भाई टी.वी. देख रहा है, तो उसे आश्चर्य होता है कि वहाँ चीन में कोई मैच हो रही है और हम यहाँ देख रहे हैं। किन्तु हमें उतना आश्चर्य नहीं होता। हम जानते हैं कि विद्युत तरंगें वहाँ रखे हुए केमरा के द्वारा उसे प्रसारित कर रही हैं और हमारे पास ग्रहण करने का यंत्र है उसमें हम देख रहे हैं। यह कार्य-कारण-सम्बन्ध हमको मालूम है, इसलिये हम नि:संदेह होकर देख रहे हैं। जब निश्चित है कि संसार में कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता, तब हमारा जन्म भी बिना कारण के कैसे होगा? जन्म का कुछ तो कारण होगा। मेरे माता-पिता मेरे जन्म के कारण नहीं हैं, वे केवल साधन हैं। मेरे जन्म का कारण मैं स्वयं हूँ। मेरी इच्छायें, मेरी वासनायें हैं। मेरे जन्म का ऐसा कोई कारण है जो बीज रूप में था और वह मेरे जन्म के रूप में फलित हुआ। हमने इस जन्म के पूर्व ऐसी बहुत-सी इच्छाओं का पोषण किया था, जिनकी पूर्ति मेरे पूर्व जन्म में नहीं हो सकी। इसलिये हमें पुन: जन्म लेना पड़ा। जब मनुष्य की मृत्यु होती है, तो देह मरती है, मन नहीं मरता। यदि मुक्ति नहीं हुई, तो यही मन जो हमारे पास है, मृत्यु के पश्चात् पुन: शरीर धारण करेगा। यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य शरीर ही धारण करेगा। भगवान गीता में कहते हैं –

यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव-भावित: ।। ८.६

– हे अर्जुन ! मनुष्य अन्त काल में जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग करता है, सदा उसी का चिन्तन करते रहने के कारण उसे वही शरीर प्राप्त होता है।

इसीलिये हमने कहा था कि आज हम जैसे हैं, जहाँ हैं, वह सब अपने पूर्व जन्म के कारण हैं।

आप अपने अनुभव से सोचकर देखें। एक बच्चा जन्म से अंधा पैदा होता है। उस बिचारे ने इस जन्म में ऐसा क्या कर्म किया था, जिससे वह अंधा हो जाय। एक बच्चा गूँगा-बहरा पैदा होता है। चिकित्सा-शास्त्र उसका कारण बता देंगे कि कुछ जीन में दोष रह गया इत्यादि। क्यों रह गया? अगर उसके दो-तीन भाई बहने हैं और वे सब अच्छे हैं, फिर यह क्यों गूँगा और बहरा हो गया? इसी के जीन में क्यों दोष रह गया? हमारे जीवन में जो सुख-दु:ख आते हैं, उसके लिए हम स्वयं ही उत्तरदायी हैं। यह बात हम बुद्धि से तो समझ लेते हैं किन्तु वह बात मेरे मन में दृढ़तापूर्वक कहाँ बैठती है ! हम यदि इस बात को चिन्तन करके, सत्संग करके, साधुसंग-भक्तसंग करके दृढ़तापूर्वक अपने मन में बिठा सकें, तो इसी जीवन में हमारे मन को, बहुत संतोष मिलने लगेगा और जीवन में बड़ी शान्ति आ जायेगी।

एक पति-पत्नी मेरे पास आये। वे सज्जन बहुत बड़े पद पर ऑफिसर थे। उनकी पत्नी भी सुशिक्षित, सत्संगी हैं। बहुत धनवान हैं, किन्तु बहुत दु:खी हैं। उनके दुख का क्या कारण है? उनका एकमात्र पुत्र सेना में जाना चाहता था। वह कमीशन्ड रेंक में भरती होकर थोड़े ही साल में पदोन्नति भी कर लिया। सेना के नियमानुसार वह कैप्टन भी बन गया। सेना में वह सबको बड़ा प्रिय था। राजस्थान में, पाकिस्तान के सीमा के पास हमारे सैनिक रहते हैं। वहाँ बहुत बड़ा कैन्टोन्मेंट है। वहाँ यह लड़का सैन्य अभ्यास में लगा था। वहाँ रेत में टैंक युद्ध का अभ्यास ये लोग कर रहे थे। उधर उसका टैंक उलट गया और उसमें उस लड़के की मृत्यु हो गयी। अब वह माँ मुझसे कहने लगी, 'महाराज! मेरे साथ ही ऐसा क्यों हुआ?

जब हमारे साथ ऐसी कोई घटना घटती है, तब हम सब भी ऐसा ही सोचते हैं कि मेरे साथ ही ऐसा क्यों हुआ। ऐसे में हमें थोड़ा विवेक-बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए। क्या उस माँ ने सारी पृथ्वी के टैंक-दुर्घटना की घटना का आकलन किया था? सारी पृथ्वी में कितने टैंक से ऐसी दुर्घटना हुई होगी ! उसमें कितने लोग मरे होंगे ! भारतवर्ष में ही कितने लोगों की मृत्यु हुई होगी, जैसे मेरे पुत्र का हुआ। परन्तु मैंने केवल अपने दु:ख को देखा। दूसरों के दु:ख को मैंने कभी देखा ही नहीं। इसलिये जब बड़ा दु:ख लगता है, तब ऐसे समय में सत्य का और तथ्य का उपयोग करना चाहिए।

कर्मयोगी यह कहता है, गीता यह कहती है कि नित्य और अनित्य का विचार करना चाहिए। कैसे विचार करें? गीता कहती है –

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

– जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जिसकी मृत्यु हुई है, यदि मुक्ति न हुई हो, तो उसका जन्म भी अवश्य होगा। अत: विपत्ति आने पर विचार करना चाहिए। दूसरों के दु:ख से हमको भी दु:ख होता है। किन्तु जब एक की मृत्यु होती है, तो उसी समय उस उम्र के कितने लड़कों की विभिन्न कारणों से मृत्यु हो गयी होगी, जिसकी सूचना हमको नहीं है। किन्तु यह सत्य है कि उस लड़के की मृत्यु हो गयी और एक-न-एक दिन सबकी मृत्यु होगी। आपने तथ्य तो देखा कि आपके पुत्र की मृत्यु हो गयी, किन्तु सत्य की ओर आपकी दृष्टि नहीं गयी कि एक-न-एक दिन उस पुत्र की मृत्यु होती ही। चाहे माँ के जीवन के बाद होती, लेकिन होती तो अवश्य। जब भी मन में ऐसा लगे कि मेरे ही साथ ऐसा क्यों हुआ, दूसरों के साथ तो ऐसा नहीं होता, तो उसके मूल में कारण हमारा कर्म ही है। कर्म-फल के कारण हमारा पुनर्जन्म हुआ है। हमने ऐसे कुछ कर्म किये थे, जिसके कारण हमको यह भोगना पड़ रहा है। हम सब कर्मों के फल भोगने के लिये विवश हैं। केवल कर्मयोगी ही कर्म के फल से मुक्त हो सकता है। किन्तु प्रारब्ध उसको भी भोगना पड़ता है। इस संसार में हम स्वयं को देखकर ही यह समझ लें कि हमारे जीवन में जो कुछ घटित हो रहा है, इसके कारण हम स्वयं ही हैं। ऐसा सोचने से हमारे मन में संतुलन आयेगा, हमें शान्ति-लाभ होगा। फिर यदि हम प्रार्थना करें, उपासना करें, मन को समझाने का प्रयत्न करें, तो कालक्रम में मन समझ भी जाता है कि यह संसार का नियम है। संसार की प्रकृति के बारे में भगवान कहते हैं –

अनित्यम् असुखं लोकम् इमम् प्राप्य भजस्व माम् – यह संसार अनित्य है, सुखरहित है, इसे प्राप्त कर हमारा भजन करो, तभी इसकी सार्थकता है। हम सोचेंगे की सुख कैसे नहीं है, हमें सुख तो मिल रहा है। किन्तु विचार करके देखिए जो कुछ सुख के नाम से हमें वस्तुएँ प्राप्त हुईं, व्यक्ति प्राप्त हुए, अवसर प्राप्त हुए, तो क्या उससे हम पूर्णत: तृप्त हुए? नहीं हुए। जब अतृप्ति हुई तो दुख हुआ। इस प्रकार यह संसार हमें दुख प्रदान करता है। एक मात्र शाश्वत सुख तो हमें ईश्वर से ही मिल सकता है। इसलिये भगवान कहते हैं कि यदि कर्मचक्रवशात् यह संसार मिल ही गया है, तो हमारा भजन करके इससे मुक्त हो जाओ।

❖ (क्रमश:) ❖

सत्संग-सुधा की बहती अविरल धारा

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सत्संग-सुधा की बहती अविरल धारा ।
आ पी ले रे जग-प्राणी, मिट जायेगा दुख सारा ।।

भगवान श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, "न्यांगटा बाबा (तोतापुरीजी, जो श्रीरामकृष्ण के वेदान्त-साधना के गुरु थे।) कहते थे, लोटे को प्रतिदिन माँजना चाहिये, नहीं तो, मैला पड़ जाता है। सत्संग, साधु-संग रोज करना चाहिये।"

सत्संग से व्यक्ति का चित्तशुद्ध होता है। उसमें विवेक और वैराग्य का उदय होता है और तब भगवान से प्रेम होता है।

श्रीरामचरित-मानस में गोस्वामीजी श्रीराम और माता शबरी जी के संवाद का बड़ा ही सुन्दर वर्णन करते हैं। ईश्वरप्राप्ति के लिये भगवान श्रीराम ने माता शबरी जी को नवधा भक्ति का उपदेश दिया। उसमें सबसे पहले ही कहा – **प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।**

जप, ध्यान, पूजा, अर्चना, धारणा, निदिध्यासन आदि प्रारम्भिक साधक के लिये कठिन प्रतीत हो सकते हैं। लेकिन संतों का संग, उनसे सत्संग, उनका सान्निध्य भक्त के लिये सदा सुखकारी होता है। वह सहज होता है। उसमें कोई जटिलता और कठिनाई नहीं होती। इसलिये हमें श्रद्धापूर्वक सत्संग करना चाहिये।

सत्संग क्या है? सत्यस्वरूप परमात्मा का जप-ध्यान, गुण-लीला चिन्तन आदि करना सत्संग है। परमात्मा को साक्षात्कार किये हुये व्यक्तियों, संत-महात्माओं के साथ संवाद, उनके साहित्य को पढ़ना, उनकी सेवा करना सत्संग है। सत्यसंकल्प परमार्थ पथ के पथिक, जो अभी मार्ग में हैं, लक्ष्य की प्राप्ति नहीं किये हैं, लेकिन दृढ़तापूर्वक निष्ठा से साधना में निरत हैं, उनका सान्निध्य प्राप्त करना सत्संग है। परमात्मा की लीलाओं, ईश्वरद्रष्टा ऋषि-मुनियों के ईश्वरीय लीलाओं का स्वध्याय, चिन्तन-मनन सत्संग की श्रेणी में ही आयेगा।

भगवान श्रीरामचन्द्र जी द्वारा निर्देशित भक्ति-कसौटी के प्रथम सोपान 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा' के अन्तर्गत हम कुछ महात्माओं के जीवन की कुछ घटनाओं और उनके द्वारा पुराने महात्माओं से सुनी हुयी कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे।

सत्संग की महिमा अपार है। माया के प्रबल आकर्षण से सुखमय जीवन में, जीवन के आनन्दमय क्षणों में, प्रतिकूल परिस्थितियों में हम इसकी महिमा का उतना अनुभव नहीं कर पाते, किन्तु जब जीवन में प्रतिकूल परिस्थिति आती है, जब हमें ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई आलम्ब दृष्टिगोचर नहीं होता, तब परमात्मा, संत और सत्संग की महिमा हमें समझ में आती है। इस सम्बन्ध में स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज ने एक बड़ी ही प्रेरक सत्य घटना का उल्लेख किया है, जिसे मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ –

"दुख प्रारब्ध से, प्रकृति से, अनदेखे स्थान से, चाहे जिससे आया हो, उससे असंग रहो, उससे दुखी मत होओ–

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
न तस्य त्वं न चासौ ते, तत्र का परिदेवना ।।

– दुख अनदेखे स्थान से आया और अनदेखे स्थान पर चला गया, न तुम उसके, न वह तुम्हारा, इसमें दुखी होने की क्या बात है?

"मेरे एक उच्च पदस्थ मित्र की पुत्री अपने पति और तीन बच्चों के साथ मोटर में जा रही थी। दुर्घटना हुई। पति और बच्चे मर गये। उसका शरीर तीन स्थानों से टूट गया। आगरे के अस्पताल में एक वर्ष पड़ी रही। एक सत्संगी उसे देखने गये, तो बोले – 'बहन, तुम पर ईश्वर ने ऐसा वज्र क्यों गिराया? तुम तो भजन करनेवाली हो।' वह पड़े-पड़े ही बोली – 'आप यह क्यों नहीं देखते कि ईश्वर ने मेरे हृदय में कितना धैर्य दिया है!'

"सत्संग का काम प्रारब्ध बदलना नहीं है। जो घटना होनेवाली है, उसे बदला नहीं जा सकता। सत्संग का काम हृदय को ऐसा बनाना है कि दुख हमें दुखी न कर सके। सत्संग हृदय-निर्माण का कारखाना है। दुख के निमित्त को कोई रोक नहीं सकता, किन्तु दुखाकार वृत्ति को रोकने का उपाय है। वह उपाय है – या तो भगवदाकार वृत्ति बनाना है, केवल भगवान से ही प्रेम रहे या योगाभ्यास से वृत्ति खाली कर देना है।"

ऐसी सत्संग की महान महिमा है।

मार्कण्डेय संन्यास आश्रम, ओंकारेश्वर (मध्य प्रदेश) के परमात्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञ सन्त स्वामी रामानन्द सरस्वती जी महाराज (१९३१-२००८) ने जिज्ञासुओं के प्रश्न के उत्तर में अपने हिमालय भ्रमण के दौरान घटी एक घटना का उल्लेख किया है। वे कहते हैं – "करीब चालीस साल पहले की बात है। मैं हिमालय में घूमते-घूमते सोलह-सतरह हजार फिट की ऊँचाई पर बर्फीले क्षेत्र में पहुँचा। वहाँ मैंने एक मन्दिर देखा। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ एक वृक्ष भी नहीं है, ऐसी जगह पर मन्दिर किसने बनाया होगा! मैं उसकी तरफ चला। इतने में मैंने एक काले मृग को देखा, तो मुझे और भी आश्चर्य हुआ, क्योंकि काला मृग हिमालय में नहीं होता है। वह तो गर्म प्रदेश में ही पाया जाता है। उसी समय वह

मृग वहाँ से उछलकर मेरे सामने आकर खड़ा हो गया और मनुष्य की भाषा में बोलने लगा –

''ज्ञान बिना भक्ति नहीं, भक्ति बिना ज्ञान नहीं।'' इस प्रकार उसने तीन बार उच्चारण किया।

उसके इस वाक्य का विचार करने पर मैंने समझा कि देवता के विषय में जब तक ज्ञान ही नहीं होगा, तब तक उसके प्रति विश्वास और भक्ति नहीं होगी और जब तक अन्तरंग भक्ति नहीं होगी, तब तक उस देवता के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान भी नहीं होगा। मैं ऐसा सोच ही रहा था, तब तक वह मृग बड़ी जटाएँ, शरीर में भस्मी, कमरबन्ध और लंगोटी पहने हुए एक महात्मा का स्वरूप धारण करते हुए, मन्दिर की तरफ चला। वे महात्मा मन्दिर में शिवलिंग का दर्शन करके बाहर आए और नन्दीश्वर के पास बैठकर एकदम समाधिस्थ हो गये।

मैं भी उनके पास में जाकर बैठ गया और भक्ति-सम्बन्धी कुछ श्लोक बोलने लगा, तो उन महात्मा के शरीर में बहुत रोमांच हो आया। उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। मैंने सोचा इस प्रकार से तो ये महात्मा मूर्च्छित हो जायेंगे। मैंने तुरन्त प्रकरण को बदला और ज्ञानविषयक श्लोक बोलने लगा, तब वे प्रकृतिस्थ हुए और कुछ समय पश्चात् पुन: मृग बन गये। वह मृग **'देखो! रस लेने के लिए तो भक्ति ही है, ज्ञान तो अनुभूति है'** – इस प्रकार कहते हुए गायब हो गया।

कहने का तात्पर्य यह है कि देवता के विषय में पहले हमें सामान्य ज्ञान प्रकट होता है, फिर उसके प्रति अनुराग (भक्ति) होता है, तदनन्तर उस देवता का विशेष ज्ञान प्रकट होता है।''

कभी-कभी सन्त-महात्मा पशु-पक्षियों या अन्य जीवों के रूप में रहते हैं और यथासमय अपने मूल स्वरूप में आकर लोगों को शिक्षा दे जाते हैं। इसलिये हमें सभी प्राणियों से सावधानी वरतते हुये प्रेम करना चाहिये। उनसे घृणा-द्वेष या हिंसात्मक व्यवहार नहीं करना चाहिये।

देवता, सन्त, महात्मा या ईश्वरीय अभिव्यक्ति कब-किस रूप होगी, इसे हम सामान्य लोग नहीं जानते। इसलिये हमें सभी प्राणियों के प्रति सद्भावना रखनी चाहिये तथा शास्त्र, गुरु और अनुभवी तत्त्ववेत्ता ऋषि-मुनियों की वाणी पर विश्वास करके ही अपनी साधना में अग्रसर होना चाहिये।

आपके देखा कि उपरोक्त हिमालय की घटना में कैसे एक काला मृग मनुष्य की भाषा में तत्त्वोपदेश कर रहा है।

ऐसी एक और घटना का उल्लेख मैं कर रहा हूँ। निम्नलिखित घटना में कैसे एक गाय ने मनुष्य की आवाज में एक उच्च कोटि के साधक को एक गलती के कारण अभिशाप दे दिया, जिसका दुष्परिणाम उस साधक को भुगतना पड़ा था।

रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी जब १९८६ में नर्मदा-परिक्रमा में थे, तब नर्मदा-खंड के एक सन्त ने उन्हें बड़ी रोचक और प्रेरक यह घटना सुनायी थी, जिससे तपस्या, पुरुषार्थ और सत्कर्म की महत्ता स्पष्ट परिलक्षित होती है। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि तपस्या कभी व्यर्थ नहीं जाती। बिना पुण्य किये कोई ऐश्वर्यशाली राजा नहीं बनता। सबको कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। अभिशाप कभी विफल नहीं होता। इसलिये मनुष्य को उपकारक के प्रति कृतघ्न न बनकर कृतज्ञ बनना चाहिये, अन्यथा इसका परिणाम बुरा ही होता है और सर्वदा सत्कर्म, सेवा और परोपकार के द्वारा अपने भावी जीवन को सुसंस्कारी, सदाचारी एवं सुखमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। सबसे महत्वपूर्ण बात साधकों के लिये यह है कि साधना काल में किसी भी घटना से उद्विग्न न हों। कभी भी किसी के कितना भी अहितकर कार्य करने पर अहंकार राग-द्वेष से साधना में विक्षेप से विक्षुब्ध होकर किसी के प्रति दुर्वचन या हिंसात्मक कार्य न करे। नहीं, तो पूरे जीवन की की गई साधना क्षणभर के आवेश से समाप्त हो जाती है। निम्नलिखित घटना साधक को सतत सावधानी का संदेश देती है।

तप से राज, श्राप से काया

एक राजा थे। उनकी कोई संतान नहीं थी। प्रजा में समृद्धि-सुख-शांति थी। लेकिन राजा का मन नि:संतान होने के कारण यह सोचकर चिन्तित रहता था कि मेरे बाद इस राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा। फिर भी मानसिक संघर्ष, परिजनों की सान्त्वना, भविष्य में संतति की आशा एवं प्रारब्ध की भवितव्यता को मानकर राजा सामान्य जीवन-यापन कर रहे थे।

किन्तु एक दिन तो राजा पर वज्रपात-सा हो गया। वे उस अपमान को सहन नहीं कर सके। राजा के साथ एक अकल्पनीय घटना घटी। वह घटना क्या थी?

एक दिन प्रात:काल राजा अपने महामंत्री के साथ राज्य का भ्रमण कर रहे थे। एक जगह अचानक उन्हें एक मेहतरीन ने देखा। राजा को देखते ही उसने घुंघट निकालकर अपना मुँह छिपा लिया और बड़ी दुखित होकर रोते हुए महामंत्रीजी से कहने लगी – ''आज मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि इस नि:संतान राजा का मुँह प्रात:काल ही मुझे देखने को मिला! पता नहीं आज मुझे खाना भी मिलेगा या नहीं! कहीं कोई अनहोनी घटना न घट जाये, यह सोच-सोच कर मेरा हृदय विदीर्ण होता जा रहा है! मेरे मन में तरह-तरह की शंकायें हो रही हैं। मैं भयभीत हो रही हूँ कि पता नहीं आज मेरे साथ क्या होगा! आज का मेरा दिन कैसे बितेगा!''

जब राजा ने उसे मुँह पर साड़ी का घुंघट निकालते हुए देखा था, तब उन्हें लगा कि हो सकता है, मुझे देखकर

लज्जावश मर्यादा के कारण उस महिला ने मुँह ढक लिया हो, इसलिए वे सामान्य भाव से भ्रमण कर महल में चले आए। लेकिन उन पर तब बिजली टूट पड़ी, जब उन्हें उनके मंत्री ने मेहतरीन की पूरी घटना यथावत बतायी। उस महिला की सारी मनोव्यथा और उसके साथ हुए संवाद को ठीक वैसे ही मंत्री ने राजा को सुना दिया। राजा यह सुनकर बहुत दुखित हुए। उन्होंने कहा – मैं एक राजा हूँ और मेरे राज्य की एक मेहतरीन भी मेरा मुँह नहीं देखना चाहती ! उन्होंने मंत्री को आदेश दिया –

"आज का मेरा सारा भोजन, उसी थाली में वैसे ही उस महिला के पास भेज दिया जाय, ताकि उसे यह प्रतीत हो कि मेरा मुँह देखने पर उसे राज-भोग मिलता है, दुर्भाग्य और अमंगल नहीं होता।"

राजा की आज्ञा से सेवक के द्वारा सारी भोजन-सामग्री स्वर्ण-थाल में सजाकर उस महिला के पास भेज दी गयी। मंत्री भी साथ में गये। पहले तो वह महिला देखकर घबड़ा गयी कि कहीं कोई अपराध तो नहीं हो गया, जिसके लिये ये लोग मुझे पकड़ने आये हैं। फिर भोजन देखकर आश्चर्य-चकित हो गयी। वह भय और विस्मय से किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। लेकिन जब मंत्री ने बताया कि यह भोजन सामग्री राजा ने तुम्हारे लिये भेजी है, तो मंत्री की इतनी बात सुनते ही वह विस्मित होकर बोली – "अच्छा! ये सब मेरे लिये राजा ने भेजा है। मैं इसे अवश्य ग्रहण करूँगी।" और बहुत ही प्रफुल्लित होकर अपना सौभाग्य मनाने लगी। जैसे ही वह आसन पर बैठकर भोजन-ग्रहण करने को तत्पर हुई, ठीक तभी उसके दरवाजे पर एक संवादवाहक आकर बोला – "एक दुर्घटना में तुम्हारे पति की मृत्यु हो गई है। उसका शव वहाँ पड़ा हुआ है। तुम जल्दी जाकर वहाँ से उसे ले आओ।"

संवादवाहक की बात सुनते ही वह छाती पीट-पीटकर रोते हुए दौड़ती हुई, पति के शव की ओर चली गई। भोजन पड़ा ही रह गया। सचमुच आज उसके भाग्य में भोजन करना नहीं था। सवेरे संतानहीन कुलक्षण राजा का मुँह जो देखी थी ! प्रात: कालीन निसन्तान नृप का मुख देखना उसके लिये अमंगल सिद्ध हुआ।

मंत्री और सेवकों ने राजा के पास आकर सारी घटना का विस्तृत वर्णन किया। राजा सम्पूर्ण घटना को सुनकर अत्यन्त दुखित हुए तथा अपने अमंगलदायक मुख पर घोर पश्चाताप करने लगे।

मेहतरिन की पति की मृत्यु वाले दिन से राजा अत्यन्त दुखित तथा गम्भीर रहने लगे। किसी से कोई बात-चित नहीं करते थे। राज-काज के प्रति कोई रुचि उनकी नहीं रह गयी। उनका शरीर दुर्बल हो गया। कुछ दिन बाद लगा कि अब वे जीवित ही नहीं बचेंगे।

राजा की इस दैन्य दशा को देखकर समस्त राज-परिवार, सेवक तथा मंत्रीगण भी चिन्तित हो गये। राजा के प्राण को कैसे बचाया जाय, सबको इसी की चिन्ता होने लगी। किन्तु इसकी क्या चिकित्सा है! यदि कोई व्याधि हो तो, उसकी चिकित्सा राजवैद्य आदि करें, लेकिन यह तो कोई रोग नहीं, यह तो मानसिक आघात है। इस रोग का एक ही निदान था – राजा को सन्तान की प्राप्ति, जो असंभव दिख रहा था।

राजा के महामंत्री बड़े ही चतुर थे। अन्तत: उन्होंने राजा के प्राण-रक्षा की युक्ति ढूँढ़ निकाली। उन्हें अंधकार में प्रकाश दिखा। उन्होंने उपाय सोच लिया। वे रानी के पास जाकर बोले – हे महारानी जी ! एकमात्र आप ही अब राजा के प्राणों की रक्षिका है। आप ही उन्हें मरने से बचा सकती हैं। रानी ने कहा – हे महामंत्री जी, आप शीघ्र बतावें कि वह कौन-सा उपाय है, जिससे राजा का जीवन बच सकता है, मैं उसे अवश्य करूँगी।

महामंत्री ने कहा – "आप राजा को यह संदेश भेज दीजिये कि आप गर्भवती हैं।" रानी ने कहा – "लेकिन महामंत्री जी...? महामंत्री ने कहा – "लेकिन... की चिन्ता छोड़ दीजिये। शेष व्यवस्था बाद में की जायेगी, अभी इतना ही आप करें।" रानी ने कहा – "क्या यह उपाय राजा की रक्षा में सफल होगा?" "निश्चय ही होगा" – मंत्री ने दृढ़ निश्चय के साथ कहा।

रानी ने कहा – "तो ठीक है, मैं राजा के पास अपने गर्भवती होने की सूचना अपनी सेविका से भेज देती हूँ।" रानी ने ऐसा ही किया। राजा के पास गर्भवती होने की सूचना भेज दी। सेविका से रानी के गर्भवती होने की सूचना पाकर राजा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सम्पूर्ण राज्य में आनन्दोत्सव मनाने की सूचना दी। राज्य में कई दिनों तक भव्य उत्सव मनाया गया। ब्राह्मणों को दान और अन्यान्य सबको पुरस्कार एवं उपहार आदि प्रदान किये गये। राजा को अब भविष्य के उत्तराधिकारी की चिन्ता छूट गयी। नि:सन्तान मुख के अमंगल का कलंक मिट जायेगा, इस निश्चित आशा से वे प्रसन्न रहने लगे। वे पुन: राज-कार्य उत्साह के साथ करने लगे और सबसे प्रसन्न मुख-मुद्रा में बातें करने लगे। राजा के इस व्यवहार से पुन: राजमहल में आनन्द का साम्राज्य छा गया।

लेकिन इधर रानी की स्थिति कैसी है? वे चिन्तित हो गयीं। वे सोचने लगीं – मेरे द्वारा राजा को भेजा गया संदेश तो असत्य था। बाद में मैं राजा को क्या उत्तर दूँगी, यदि संतान नहीं ...? दिन-पर-दिन बीतने लगे। महीने-पर-महीने बीतने लगे। अन्त में वह समय आ ही गया। राजा ने रानी के महल में धाई (धातृ) की नियुक्ति कर दी। रानी घबड़ा गयीं। उन्होंने महामंत्री को बुलाया और कहा – "महामंत्री

जी! अब तो कुछ कीजिए।'' नहीं तो हमें राजा के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। महामंत्री जी ने धाई को कुछ रूपये देकर एक कमरे में बंद कर दिया और उसे धमकाते हुए कहा – ''खबरदार! यदि एक शब्द भी यहाँ के बारे में राजा या किसी भी व्यक्ति को कुछ बतायी तो तुम्हें सपरिवार नष्ट कर दूँगा। ये धन लो और मेरे आदेश तक चुपचाप इसी कक्ष में अकेली निवास करो।'' धाय डर गयी। उसने महामंत्री की बात स्वीकार कर ली।

महामन्त्री जी ने राजा को परामर्श दिया कि आज की रात आपके राज्य का उत्तराधिकारी जन्म होने वाला है, इस खुशी में महल के सभी कर्मचारियों, सेवक-सेविकाओं, प्रहरियों आदि को छुट्टी दे दी जाय, ताकि वे सभी आज के दिन अपने परिवार के साथ आनन्द मनावें। राजा को महामंत्री का यह परामर्श बहुत अच्छा लगा। उन्होंने सबको आनन्दोत्सव मनाने के लिये अवकाश दे दिया। यह कार्य महामंत्री ने इसलिए किया था कि उनकी योजना की सफलता में कोई बाधा न पहुँचे।

अन्तिम रात्रि में महामंत्री जी पूरी रात राज्य में भ्रमण करते रहे। क्यों भ्रमण करते रहे? इसलिए कि कहीं किसी के यहाँ सद्यः जन्मा शिशु मिल जाय ताकि हम रानी को दे सकें। लेकिन सर्वत्र निराशा ही उन्हें मिली। कहीं कोई शिशु की आवाज उन्हें सुनाई नहीं पड़ी। महामंत्री चिन्तित हो गये। दैवयोग से रात्रि के सबसे अन्तिम प्रहर में राज्य के अन्तिम छोर पर निवास करने वाले एक भंगी के घर में से एक नवजन्मा शिशु की आवाज सुनाई दी। महामंत्री ने उससे कहा कि तुम अपना बच्चा हमें दे दो। वह भंगिन रोने लगी। उसने रोते हुए कहा – ''महामंत्री जी, मेरा यह बच्चा बड़ा होकर मुझे कमाकर खिलायेगा, मैं अपने इस बच्चे को कैसे दे सकती हूँ? किस माँ को अपने बच्चे से प्रेम नहीं होता? सभी मातायें इस प्रगाढ़ हार्दिक प्रेम का अनुभव अपने हृदय में करती हैं। क्यों आप मेरे इस बच्चे को माँगकर मेरी छाती को फाड़ रहे हैं। मुझे ऐसा लग रहा है, जैसे आप मेरे कलेजे के टुकड़े को माँग रहे हैं।'' ऐसा कहकर वह विलाप करने लगी।

महामंत्री ने उसे पहले समझाया कि तुम्हारा लड़का राजा बनेगा। तुम्हें इसके बदले अपार सम्पत्ति मैं दूँगा, जो जीवन भर मजदूरी करके वह नहीं कमा पायेगा। उसके बाद धमकाया कि यदि हमारी बात नहीं मनोगी, तो हम तुम्हें सपरिवार जेल में डाल देंगे।

साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति सफल हुई। वह बच्चा देने को तैयार हो गयी। महामंत्री जी बच्चा लेकर वापस महल में आ गये और रानी को सौंप दिया। इसके साथ ही शंख, नगाड़े आदि मंगल वाद्य बजने लगे। महारानी को लड़का हुआ है, इस सूचना से राजा बहुत प्रसन्न हुए। सारी प्रजा भी प्रसन्न हो गयी। सारे राज्य में हर्ष की लहर प्रवाहित होने लगी। राजा ने सम्पूर्ण राज्य में कई दिनों तक आनन्दोत्सव मनाने की घोषणा की तथा सबको यथायोग्य दान-उपहार, पारितोषिक प्रदान किया।

राजा अब सन्तुष्ट थे। मंत्रीगण भी राजा की प्रसन्नता से खुश तथा निश्चिन्त थे। राज-काज सब ठीक से चलने लगा।

राजकुमार राजसी वैभव में पलने लगे। वे बड़े होने लगे। आयु के अनुसार राज-विद्या और प्रशासनिक दक्षता, रण कौशल, शस्त्रास्त्र प्रक्षेपण आदि का प्रशिक्षण भी प्राप्त करने लगे।

परमात्मा की लीला विचित्र एवं अबोध्य है! विधि का विधान कुछ दूसरा ही था। राजकुमार की अल्पायु में ही राजा का निधन हो गया। राजाकुमार की आशा केवल उनकी माँ थीं। महारानी भी एक दिन अचानक अस्वस्थ हो गयीं। मृत्यु समीप समझकर एकदिन महारानी ने राजकुमार से कहा – ''बेटा आज से तेरे माता-पिता महामंत्री जी हैं। तुम इनकी श्रद्धा करना तथा कोई भी कार्य इनसे परामर्श लेकर करना।'' तत्पश्चात् महारानी का भी देहान्त हो गया। १२ वर्ष की अल्प आयु में राज्य का भार राजकुमार पर आ गया। वे अपने श्रद्धेय महामंत्री जी के सहयोग से राज्य का सुसंचालन करने लगे।

राजकुमार अपनी माँ की बात मानकर महामंत्री जी की श्रद्धा करते, दरबार में उनको सम्मान देते। महामंत्री भी उन्हें बहुत प्रेम करते।

प्रतिदिन प्रातः राज-दरबार लगता था। दरबार में सभी मंत्री-कर्मचारीगण उपस्थित होते और राजा को प्रणाम करने के बाद ही अपने आसन पर बैठते थे। किन्तु महामंत्री जी राजा को प्रणाम नहीं करते थे। क्योंकि वे जानते थे कि यह भंगी का पुत्र है, राजा का पुत्र नहीं है। राजकुमार को महामंत्री जी का यह आचरण बहुत बुरा लगता था।

उन्हें अपमान का बोध होने लगा। उन्होंने कुछ दिनों बाद महामंत्री जी से कहा – महामंत्री जी! मेरी माँ ने कहा है, इसलिए मैं आपकी इतनी श्रद्धा करता हूँ। लेकिन एक बात मुझे खटकती है – राज-दरबार में सभी मुझे प्रणाम करते हैं, लेकिन आप नहीं करते हैं, ऐसा क्यों? सबके सामने पूरे राज-दरबार में आप मेरा असम्मान क्यों करते हैं? महामंत्री ने कहा – ''मैं आपको प्रणाम नहीं करूँगा।'' राजा के द्वारा प्रणाम न करने का कारण पूछने पर महामंत्री ने कारण बताना अस्वीकार कर दिया।

राजकुमार ने कहा – ''आप हमारे राज्य में रहेंगे, हमारे राज्य का अन्न खायेंगे और हमारे दरबार में हमारा सम्मान नहीं करेंगे, हमें प्रणाम नहीं करेंगे, ऐसा कैसे होगा?''

महामंत्री जी ने मंत्री पद छोड़ने का निर्णय सुनाया। राजकुमार ने कहा कि ठीक है, आप महामंत्री पद छोड़ दीजिए।

महामंत्री जी ने मंत्री का कार्य छोड़ दिया और वे अपने घर में रहने लगे। महामन्त्री एक सम्मानित व्यक्ति और राजहितैषी थे, इसलिये राजा ने भी उन्हें परेशान न कर राज्य में शान्ति से रहने दिया। महामन्त्री जी एक ईमानदार और राज्यहित हेतु निष्ठावान थे। उन्हें यह अपमान सहन नहीं हुआ। वे हताश और निराश हो गये और आत्महत्या कर अपना जीवन समाप्त करने का विचार करने लगे।

एक दिन महामंत्री जी विषादग्रस्त होकर आत्महत्या करने के लिये नदी के तट पर गये। जब वे नदी के तट से जल में छलाँग लगाने ही वाले थे, तभी अचानक उन्होंने देखा कि एक बहुत ही सुन्दर फूल नदी में बहते हुए उनके सामने आ रहा है। उसे देखकर वे विमुग्ध हो गये। ऐसा फूल उन्होंने कभी नहीं देखा था। उन्होंने सोचा कि यह फूल मैं ले जाकर राजा को देता हूँ, हो सकता है कि इससे वे प्रसन्न हो जायँ। महामंत्री जी आत्महत्या की बात भूल गये और फूल लेकर राजा के पास चल दिये।

कुछ प्राप्ति की आशा मानव जीवन को गति प्रदान करती है। जो महामंत्री आत्महत्या करने नदी में कूद रहे थे, वे ही अब नदी से फूल लेकर राजा को प्रसन्न करने चल दिये।

अपदस्थ महामंत्री राजदरबार में फूल लेकर पहुँचे और राजा को फूल प्रदान किया। राजा फूल देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने महामंत्री जी से पूछा – "आपको यह फूल कहाँ से मिला?" महामंत्री ने कुछ नहीं बताया। पर राजा ने उन्हें एक और फूल लाने को कहा। महामंत्री जी ने नकारात्मक उत्तर दिया। महामंत्री जी को आना-कानी करते देख राजा ने उनके सारे परिवार को बंधक बनाने और दूसरा फूल लाने तक जेल में रखने का आदेश दे दिया।

दुखित मन से महामंत्री जी घोड़े से फूल की खोज में निकले। किसे पता यह फूल कहाँ मिलेगा। नदी के किनारे-किनारे चलते रहे, लेकिन ६ दिन बीतने पर भी फूल का कोई पता नहीं चला।

महामंत्री जी चिन्तित हो गये। उन्हें अपने परिवार की दुर्दशा के बारे में सोचकर बहुत दुःख हो रहा था। वे सोच रहे थे कि अबकी बार फूल लेकर जाऊँगा और राजा को देकर राज्य छोड़कर सपरिवार किसी दूसरे राज्य में चला जाऊँगा। लेकिन फूल तो मिल ही नहीं रहा है। महामंत्री जी की चिन्ता बढ़ती जा रही है।

घोड़े पर बैठकर नदी के किनारे-किनारे फूल खोजते-खोजते चले जा रहे थे। सातवें दिन उन्हें दूर से नदी में बहते हुये फूल दिखाई दिये। बहुत से वैसे ही सुन्दर-सुन्दर फूल बहते हुए उनकी ओर चले आ रहे हैं। महामंत्री जी सोचने लगे कि ये फूल कहाँ से आ रहे हैं? उन फूलों के उद्गम-स्थल को जानने के लिए महामंत्री जी आगे बढ़े।

महामंत्री जी फूल के स्रोत को खोजते-खोजते एक भयंकर जंगल में जा पहुँचे। महामंत्री को फूल का श्रोत मिल गया। लेकिन यह क्या! फूल का बनना भी बड़ा ही आश्चर्य चकित करने वाला था। महामंत्री जी फूल बनने की प्रक्रिया देखकर विस्मित हो गये ! कैसे बन रहा था फूल?

घनघोर जंगल में नदी के तट पर एक विशाल बरगद का पेड़ है। वहाँ एक आसन है। आसन के बगल में एक पात्र है। आसन के सामने एक त्रिशूल गड़ी हुई है। त्रिशूल के बगल में धूनी है। वहाँ एक सफेद रंग की गाय आयी। उसने आसन के पास रखे पात्र में दुध दिया। उसके बाद वह पानी पीने नदी में उतरी। उसके पैर में एक घाव था। उस घाव से बूँद-बूँद रक्त नदी के जल में गिर रहा था। एक-एक बूँद रक्त से एक-एक सुन्दर फूल बनकर नदी में बहता जा रहा था।

महामंत्रीजी फूल बनने की प्रक्रिया से आश्चर्यचकित हो गये। किन्तु यह अबोध्य लीला उन्हें समझ में नहीं आयी। वे फूल लेकर राजा के पास घोड़े पर सवार होकर चल दिये। जाते-जाते सोच रहे थे – "फूल ले जाकर राजकुमार को दे दूँगा और सपरिवार इस राज्य को छोड़कर किसी दूसरे राज्य में चला जाऊँगा। यह भंगी का लड़का बहुत ही घमण्डी, दुराग्रही और अत्याचारी है। मेरे परिवार को बंधक बना लिया है। संयोग से फूल मिल गया! यदि नहीं मिलता तो...?" यही सब सोचते-सोचते महामंत्री जी राज्य में पहुँच गये। राजा के महल में जाकर राजा को फूल भेंट किया। राजा ने प्रसन्न होकर पूछा – "महामंत्रीजी, यह फूल आपको कहाँ से मिला?" महामंत्री जी ने आक्रोश पूर्वक कहा – "इससे आपको क्या मतलब?" आपको फूल मिल गया न ! बस, इस संबंध में अब अधिक कुछ मत पूछिए। आप हमारे परिवार को जेल के बंधन से मुक्त कर दीजिए। मुझे आप से कुछ नहीं चाहिए। मैं इस राज्य को छोड़कर दूसरे राज्य में चला जाऊँगा।"

राजकुमार ने विनम्रता से कहा – "महामंत्री जी, क्या मैं बताऊँ कि आपको यह फूल कहाँ से और कैसे मिला है?

महामंत्री ने क्रोध में कहा – "आपको कैसे पता? जानते हैं, तो बताइये?"

महामंत्री ने सोचा कि मेरे अतिरिक्त इस घटना को दूसरा कोई भी व्यक्ति नहीं जानता है। यह राजकुमार झूठ बोल रहा है। अब इसकी झूठ की पोल खुल जायेगी। इसीलिए महामंत्री ने राजकुमार से तमक कर कहा –"आप जानते हैं तो बताइये।"

राजकुमार ने नम्रता और धैर्यपूर्वक कहा – "सुनिये महामंत्री जी, मैं आपको फूल-प्राप्ति का रहस्य बताता हूँ। आप फूल खोजते-खोजते सात दिनों बाद एक घनघोर जंगल में पहुँचे। वहाँ एक स्वच्छ सुन्दर मधुर कल-कल निनाद करती हुयी नदी बह रही थी। उस नदी के तट पर एक

विशाल बरगद का पेड़ था। उस पेड़ के नीचे एक आसन बिछा हुआ था। उसके बगल में एक पात्र था। आसन के सामने एक त्रिशूल गड़ा हुआ था। सामने ही धूनी जल रही थी। तभी जंगल से एक सफेद रंग की गाय आयी। वह आसन के बगल में रखे पात्र के पास खड़े होकर स्वयं ही दूध उस पात्र में गिरा दी। उसके बाद वह पानी पीने के लिये नदी के जल में उतरी। उसके पैर में एक घाव था। उस घाव से बूँद-बूँद कर रक्त नदी में गिर रहा था। एक-एक बूँद रक्त एक-एक सुन्दर फूल बनकर नदी में प्रवाहित हो रहा था।''

महामंत्री जी ने सोचा कि अवश्य ही राजा ने मेरे पीछे कोई गुप्तचर लगा दिया होगा। इसलिये उन्होंने आवेश में आकर राजा से कहा – ''आपको यह सब कैसे पता चला।'' जबकि बात कुछ दूसरी ही थी।

राजा ने विनम्रतापूर्वक कहा – ''महामंत्री जी ! पेड़ के नीचे लगा हुआ आसन मेरा ही है। मैं ही वहाँ तपस्या करता था।''

राजा की इतनी बात सुनते ही महामंत्री जी विस्मित होकर बोले – ''क्या वह आसन आपका है? क्या सचमुच आप ही वहाँ तपस्या करते थे?''

महामंत्री जी को चौंकते देखकर राजा ने कहा – ''हाँ, महामंत्री जी! वह तपस्वी मैं ही हूँ और वह मेरा ही आसन है। मैं राजा अपनी तपस्या से बना हूँ। भंगी का शरीर तो मुझे अभिशाप से मिला है। लेकिन आप सोचते हैं कि आपने मुझे राजा बनाया है।''

महामंत्री जी का क्रोध शान्त होने लगा, आवेश लुप्त होने लगा, उनका अंहकार गलने लगा। उन्होंने मृदु स्वर में कहा ''हे राजन्! आप कृपा कर बतावें कि आप जैसे तपस्वी का जन्म वहाँ कैसे हुआ? तपस्या में किस भूल के द्वारा आपकी ऐसी अवस्था हुई कि साधना सिद्ध नहीं हुई और भंगी का शरीर मिला?''

राजा ने श्रद्धापूर्वक कहा – ''हे महामंत्री जी ! मैं १४ वर्षों से उस पेड़ के नीचे तपस्या कर रहा था। सर्वदा उसी आसन पर बैठकर ध्यान करता था। वह सफेद गाय १४ वर्षों से प्रतिदिन आकर बिना माँगे उस पात्र में स्वयं ही दूध दे दिया करती थी और दूध देने के बाद मेरी साधना में बिना कोई बिघ्न पहुँचाये, चुपचाप चली जाया करती थी। उसकी सेवा की यह श्रृंखला अनवरत चलती रही। अब मेरी साधना पूर्ण होनेवाली ही थी, तभी एक घटना घटी। मेरे जीवन की यह सबसे बड़ी भूल थी। एक दिन जब मैं वहाँ बैठकर ध्यानमग्न था, तभी वह गाय आयी और अपनी नुकीली सिंग से मुझे कुरेदने लगी। मैंने उसे हटाया, लेकिन वह नहीं मानी। मैने उसे पुन: हटाया, लेकिन फिर से वह अपनी सिंग से मेरे शरीर में कुरेदने लगी। उसके द्वारा कई बार ऐसा करने पर ध्यान में बिघ्न होने से मुझे क्रोध आ गया। मैंने सामने गड़े त्रिशूल से उसके पैर में वार कर दिया, त्रिशूल को उसके पैर में घोंप दिया। उसके पैर से रुधिर की धारा बह चली। मेरे इस कुकृत्य से वह तड़प उठी और मनुष्य की आवाज में बोली – ''तुम तो भंगी हो ! मैं १४ वर्षों से अनवरत दूध देकर तुम्हारी सेवा कर रही हूँ। उस सेवा को तुमने भुला दिया। लेकिन एक दिन की गलती के कारण मेरे शरीर को क्षत-विक्षत कर मेरे पैर में गहरा घाव कर दिया। तुम कृतघ्न हो।''

महामंत्री जी, मैं उस गाय के द्वारा मानव-वाणी में अपनी भर्त्सना सुनकर स्तब्ध रह गया। मैं पश्चाताप करने लगा। मेरी तपस्या भंग हो गयी और साधना अपूर्ण ही रह गयी, क्योंकि क्रोध के रहते साधना सिद्ध नहीं होती। इसी बीच मेरा देहान्त हो गया और मेरा जन्म भंगी के घर में हुआ। महामंत्री जी ! मैं उस गाय के रूप में विचरण करने वाले दिव्य आत्मा के श्राप से भंगी बना। किन्तु राजा मैं अपनी तपस्या से बना हूँ। लेकिन आप सोचते हैं कि आपने मुझे राजा बनाया है।'' राजा की बात सुनकर महामंत्री अवाक् रह गये। वे गंभीर होकर सोचने लगे।

तब राजा ने पूछा – ''कहिए महामंत्री जी ! क्या आप कल से राज दरबार में आयेंगे?'' महामन्त्री ने कहा – ''हाँ, मैं कल से आऊँगा।''

राजा ने पुन: पूछा – ''क्या, कल से महामंत्री का पद-भार पुन: सँभालेंगे?''

महामंत्री ने कहा – ''हाँ, मैं कल से आकर महामंत्री का पद-भार सँभालकर पूर्व की भाँति राज्य का सुसंचालन करूँगा।''

राजा ने पुन: पूछा – महामंत्री जी! राज दरबार में मुझे प्रणाम करेंगे तो?

महामंत्री ने कहा – 'हाँ, अब मैं भी कल से आपको प्रणाम करूँगा।''

दूसरे दिन से महामंत्री जी दरबार में आने लगे और राजा को प्रणाम करने लगे। क्योंकि उन्हें यह बोध हो चुका था कि राजा कोई भंगी नहीं है, बल्कि एक महान तपस्वी हैं।

यह घटना हमें संदेश देती है कि हमें किसी भी प्राणी की मनसा-वाचा-कर्मणा किसी भी प्रकार से कोई क्षति नहीं पहुँचानी चाहिये और सदा सत्कर्म करते रहना चाहिये। किसी के प्रति कृतघ्नता कदापि नहीं करनी चाहिये। साधक के ये महान शत्रु हैं। इससे बचने के लिये सदा भगवान से प्रार्थना करते रहना चाहिये। ❑ ❑ ❑

कठोपनिषद्-भाष्य (१८)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

भाष्यम् – तत्र य: उपाधिकृत: संसारी विद्या-अविद्ययो: अधिकृतो मोक्ष-गमनाय संसार-गमनाय च; तस्य तत्-उभय-गमने साधनो रथ: कल्प्यते –

भाष्य-अनुवाद – इन दो (आत्माओं) में से एक, जो उपाधियों के कारण आवागमन करनेवाली (जीवात्मा) है, वह मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान (विद्या) की और सांसारिक अवस्था की प्राप्ति के लिये अज्ञान (अविद्या) की अधिकारिणी है। उसके लिये इन दोनों की प्राप्ति के साधनों के रूप में एक रथ की कल्पना की गयी है –

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च ।। १.३.३

अन्वयार्थ – **आत्मानम्** कर्मफल भोक्ता जीवात्मा को **रथिनम्** रथ का सवार **विद्धि** समझना, **तु** किन्तु **शरीरम्** शरीर को **रथम् एव** रथ के रूप में ही (जानना), **तु बुद्धिम्** बुद्धि को **सारथिम्** रथचालक **विद्धि** जानना **च** और **मन:** मन को **प्रग्रहम्** लगाम **एव** ही (जानना)।

भावार्थ – कर्मफल भोक्ता जीवात्मा को रथ का सवार समझना, किन्तु शरीर को रथ के रूप में ही (जानना), बुद्धि को रथचालक जानना और मन को लगाम ही (जानना)।

भाष्यम् – तत्र आत्मानम् ऋतपं संसारिणं रथिनं रथ-स्वामिनं विद्धि विजानीहि । शरीरं रथम् एव तु रथ-बद्ध-हय-स्थानीयै: इन्द्रियै: आकृष्यमाणत्वात् शरीरस्य। बुद्धिं तु अध्यवसाय-लक्षणां सारथिं विद्धि; बुद्धि-नेतृ-प्रधानत्वात् शरीरस्य, सारथि-नेतृ-प्रधान इव रथ: । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धि-कर्तव्यम् एव प्रायेण । मन: संकल्प-विकल्प-आदि-लक्षणं प्रग्रहम् रशनामं एव विद्धि । मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेव अश्वा: ।।३(५७)।।

भाष्य-अनुवाद – यहाँ उस कर्मफल की भोक्ता संसारी (आवागमन करनेवाली) आत्मा को रथ का मालिक समझो। शरीर को रथ मानो, क्योंकि शरीर-रूपी रथ में बँधे हुए इन्द्रियों-रूपी घोड़ों द्वारा यह खिंचता रहता है। अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करनेवाली बुद्धि को सारथी समझो, क्योंकि जैसे रथ में सारथी निश्चय करनेवाला है, वैसे ही शरीर में बुद्धि निश्चय करनेवाली है; शरीर के प्राय: सभी कर्तव्यों को सम्पन्न करना बुद्धि का ही काम है। संकल्प-विकल्प आदि लक्षणोंवाले मन को लगाम समझो। घोड़ों की लगाम खींचने के समान ही मन के द्वारा नियंत्रित होकर ही श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: ।। १.३.४

अन्वयार्थ – **मनीषिण:** विवेकी लोग **इन्द्रियाणि** नेत्र आदि इन्द्रियों को **हयान्** घोड़े, **तेषु** समस्त इन्द्रियों द्वारा गृहीत **विषयान्** रूप-रस आदि भोग्य विषयों को **गोचरान्** उनके चलने का मार्ग (कहते हैं)। **आत्मा-इन्द्रिय-मन:-युक्तम्** देह-इन्द्रियों तथा मन से युक्त आत्मा को (उन विषयों का) **भोक्ता** भोगकर्ता **आहु:** कहते हैं।

भावार्थ – विवेकी लोग नेत्र आदि इन्द्रियों को घोड़े, समस्त इन्द्रियों द्वारा गृहीत रूप-रस आदि भोग्य विषयों को उनके चलने का मार्ग और देह-इन्द्रियों तथा मन से युक्त आत्मा को (उन विषयों का) भोगकर्ता कहते हैं।

भाष्यम् – इन्द्रियाणि चक्षु: आदीनि हयान् आहु: रथ-कल्पना-कुशला:, शरीर-रथ-आकर्षण-सामान्यात् । तेषु इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान् मार्गान् रूप-आदीन् विषयान् विद्धि । आत्मा-इन्द्रिय-मनो-युक्तं शरीर-इन्द्रिय-मनोभि: सहितं संयुतम् आत्मानं भोक्ता इति संसारी इति आहु: मनीषिण: विवेकिन: । न हि केवलस्य आत्मन: भोक्तृत्वम् अस्ति; बुद्धि-आदि-उपाधि-कृतम् एव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्य अभोक्तृत्वम् एव दर्शयति – 'ध्यायति इव लेलायति इव' (बृ. ४.३.७) इत्यादि । एवं च सति वक्ष्यमाण-रथ-कल्पनया वैष्णवस्य पदस्य आत्मतया प्रतिपत्ति: उपपद्यते (कठ. १.३.९), न अन्यथा, स्वभावान् अतिक्रमात् ।। १.३.४ (५८) ।।

भाष्य-अनुवाद – रथ की कल्पना करने में कुशल लोगों ने, शरीर तथा रथ को खींचने में समानता के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों को घोड़े कहा है। उन इन्द्रियों की घोड़ों के रूप में कल्पना हो जाने के बाद विषयों को उनके मार्गों के रूप में जानो। शरीर, इन्द्रियों, मन के साथ जुड़ी हुई आत्मा को विवेकी पुरुषों ने 'संसारी' (आवागमन करनेवाला जीव) कहा है; क्योंकि शुद्ध आत्मा में भोक्तापन नहीं आ सकता, बुद्धि आदि उपाधियों के कारण ही उसमें भोक्तापन बनता है।

एक अन्य श्रुति (वेदवाक्य) – 'मानो सोचता हुआ, मानो चेष्टा करता हुआ' आदि भी शुद्ध आत्मा का अभोक्तृत्व ही दिखाता है। और ऐसा होने से ही रथ के रूपक के द्वारा आगे कहे जानेवाले वैष्णव पद की आत्मा के रूप में उपलब्धि सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि (मूलभूत) स्वभाव को कभी बदला नहीं जा सकता।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।। १.३.५

अन्वयार्थ – **तु** परन्तु **यः** जो बुद्धिरूप सारथी **सदा** सर्वदा **अयुक्तेन** असंयमित **मनसा** (लगाम-रूपी) मन के साथ युक्त होकर **अविज्ञानवान्** (उचित-अनुचित के विषय में) अविवेकी **भवति** हो जाता है, **तस्य** उसकी **इन्द्रियाणि** इन्द्रियाँ **सारथेः** सारथी के **दुष्ट-अश्वाः** दुष्ट घोड़ों **इव** की भाँति **अवश्यानि** वश में नहीं रह जातीं।

भावार्थ – परन्तु जो बुद्धिरूप सारथी सर्वदा असंयमित (लगाम-रूपी) मन के साथ युक्त होकर (उचित-अनुचित के विषय में) अविवेकी हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथी के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में नहीं रह जातीं।

भाष्यम् – तत्र एवम् सति - यः तु बुद्धि-आख्यः सारथिः अविज्ञानवान् अनिपुणो अविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति, यथा इतरो रथ-चर्यायाम् अयुक्तेन अप्रगृहीतेन असमाहितेन मनसा प्रग्रह-स्थानीयेन सदा युक्तो भवति, तस्य अकुशलस्य बुद्धि-सारथेः इन्द्रियाणि अश्व-स्थानीयानि अवश्यानि अशक्य-निवारणानि दुष्ट-अश्वाः अदान्त-अश्वाः इव इतर-सारथेः भवन्ति ।।५ (५९)।।

भाष्य-अनुवाद – ऐसा होने से – अन्य (वास्तविक) सारथी के सर्वदा अनियंत्रित मन के साथ रथ चलाने के समान, जो बुद्धि-रूपी सारथी प्रवृत्ति (भोग) तथा निवृत्ति (संयम) के मार्ग में अकुशल – अविवेकी हो जाता है, उस अकुशल बुद्धि-रूपी सारथी की घोड़ों-रूपी इन्द्रियाँ अन्य सारथी के घोड़ों के समान अनियंत्रित हो जाती हैं।

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।। १.३.६

अन्वयार्थ – **तु** परन्तु **यः** जो बुद्धिरूप सारथी **सदा** सर्वदा **युक्तेन** संयमित **मनसा** (लगाम-रूपी) मन के साथ युक्त होकर **विज्ञानवान्** (उचित-अनुचित के विषय में) विवेकी **भवति** हो जाता है, **तस्य** उसकी **इन्द्रियाणि** इन्द्रियाँ **सारथेः** सारथी के **सद्-अश्वाः** भले घोड़ों **इव** की भाँति **वश्यानि** वश में रहती हैं।

भावार्थ – परन्तु जो बुद्धिरूप सारथी सर्वदा संयमित (लगाम-रूपी) मन के साथ युक्त होकर (उचित-अनुचित के विषय में) विवेकी हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथी के भले घोड़ों की भाँति वश में रहती हैं।

भाष्यम् – यः तु पुनः पूर्वोक्त-विपरीत-सारथिः भवति तस्य फलम् आह – यः तु विज्ञानवान् निपुणः विवेकवान् युक्तेन मनसा प्रगृहीत-मनाः समाहित-चित्तः सदा, तस्य अश्व-स्थानीयानि इन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सत्-अश्वा इव इतर-सारथेः ।।६(६०)।।

भाष्य-अनुवाद – जो सारथी पूर्वोक्त के विपरीत होता है, अब उसका फल बताते हैं – परन्तु सर्वदा नियंत्रित मनवाला अर्थात् समाहित चित्तवाला जो (बुद्धि-रूपी सारथी) निपुण अर्थात् विवेकवान होता है, उसकी घोड़ों-रूपी इन्द्रियाँ, अन्य सारथी के अच्छे घोड़ों के नियंत्रित होने के समान, आगे बढ़ने (भोग) तथा ठहरने (संयम) में सक्षम होती हैं।

* * *

भाष्यम् – तत्र पूर्वोक्तस्य अविज्ञानवतः बुद्धि-सारथेः इदं फलम् आह –

भाष्य-अनुवाद – पूर्वोक्त अविवेकी बुद्धि-रूपी सारथी का जो परिणाम है, अब वही बताते हैं –

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ।। १.३.७

अन्वयार्थ – **तु** परन्तु **यः** जो बुद्धिरूप सारथी **सदा** सर्वदा **अमनस्कः** असंयत मनवाला **अविज्ञानवान्** अविवेकी **अशुचिः** अपवित्र, इन्द्रियों के वश में **भवति** हो जाता है, (उस बुद्धि की सहायता से) **सः** वह **तत् पदम्** उस कैवल्य नामक परम पद को **न आप्नोति** नहीं प्राप्त होता, **च** बल्कि **संसारम्** जन्म-मृत्यु (आवागमन) रूप संसार-गति को **अधिगच्छति** प्राप्त होता है।

भावार्थ – परन्तु जो बुद्धिरूप सारथी सर्वदा असंयत मनवाला अविवेकी अपवित्र (इन्द्रियों के अधीन) हो जाता है, (उस बुद्धि की सहायता से) वह उस कैवल्य नामक परम पद को नहीं प्राप्त होता, बल्कि जन्म-मृत्यु (आवागमन) रूप संसार-गति को प्राप्त होता है।

यः तु अविज्ञानवान् भवति। अमनस्कः अप्रगृहीत-मनस्कः सः तत एव अशुचिः सदा एव। न सः रथी तत् पूर्वोक्तम् अक्षरं यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना। न केवलं कैवल्यं न आप्नोति, संसारं च जन्म-मरण-लक्षणम् अधिगच्छति ।।७(६१)।।

भाष्य-अनुवाद – परन्तु जो (जीवात्मा-रूपी रथी – सवार या साधक) अविवेकी (बुद्धि-सारथीवाला) अर्थात् अनियंत्रित मनवाला होता है, (और) इसी कारण जो सर्वदा अपवित्र होता है; वह रथी ऐसे बुद्धि-सारथी की सहायता से पूर्वोक्त 'अक्षर' नामक परम पद को नहीं प्राप्त कर सकता। वह न केवल कैवल्य अवस्था की प्राप्ति नहीं कर पाता, अपितु जन्म-मृत्यु-रूपी संसार को प्राप्त होता है।

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ।। १.३.८

अन्वयार्थ – **तु** परन्तु **यः** जो रथी (जीवात्मा) **अविज्ञानवान्** कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेकवाले सारथी से युक्त, **समनस्कः** संयत मनवाला (और) **सदा** सर्वदा **शुचिः** पवित्र (शुद्ध चित्त वाला) **भवति** हो जाता है, **सः** वह **तु** परन्तु **तत् पदम्** उस परम पद को **आप्नोति** प्राप्त होता है, **यस्मात्** जिस पद से (च्युत होकर) **भूयः** पुन: **न जायते** जन्म नहीं होता।

भावार्थ – परन्तु जो रथी (सवार) कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेकवाले सारथी से युक्त, संयत मनवाला (और) सर्वदा पवित्र (शुद्धचित्त) हो जाता है, वह उस परम पद को प्राप्त होता है, जिस पद से (च्युत होकर) पुन: जन्म नहीं होता।

भाष्यम् – यः तु द्वितीयो विज्ञानवान् भवति विज्ञानवत्-सारथि-उपेतो रथी विद्वान् इति एतत्। युक्तमनाः समनस्कः सः तत एव सदा शुचिः। सः तु तत्-पदम्-आप्नोति, यस्माद् आप्तात् पदात् अप्रच्युतः सन् भूयः पुनः न जायते संसारे ।।८ (६२)।।

भाष्य-अनुवाद – परन्तु दूसरा (जीवात्मा-रूपी) रथी, जो विवेकवान बुद्धि-रूपी सारथी से युक्त (का आश्रय लेता है), और इसी कारण वह नियंत्रित मनवाला तथा सदा पवित्र होता है, वह उस (परम) पद (लक्ष्य) को प्राप्त कर लेता है, जिससे च्युत होकर दुबारा संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।

* * *

भाष्यम् – किं तत् पदम् इति आह –

भाष्य-अनुवाद – अब बताते हैं कि वह पद क्या है –

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।। १.३.९

अन्वयार्थ – **यः तु** और जो **नरः** व्यक्ति **विज्ञान-सारथिः** विवेक-बुद्धि रूपी सारथीवाला (और) **मनः प्रग्रहवान्** (इन्द्रियों के नियन्ता) मनरूपी लगाम वाला है, **सः** वह **अध्वनः** इस (आवागमन-रूप) संसार-मार्ग के **पारम्** उस पार (लक्ष्य को) **आप्नोति** प्राप्त कर लेता है, **तत्** वही **विष्णोः** विष्णु का **परमम्** सर्वोच्च **पदम्** अधिष्ठान है।

भावार्थ – और जो व्यक्ति विवेक-बुद्धि रूपी सारथीवाला (और) (इन्द्रियों के नियन्ता) मनरूपी लगाम वाला है, वह इस (आवागमन-रूप) संसार-मार्ग के उस पार (लक्ष्य को) प्राप्त कर लेता है, वही विष्णु का सर्वोच्च अधिष्ठान है।

विज्ञान-सारथिः यः तु यो विवेक-बुद्धि-सारथिः पूर्वोक्त मनः-प्रग्रहवान् प्रगृहीत-मनाः समाहित-चित्तः सन् शुचिः नरः विद्वान्, सः अध्वनः संसार-गतेः पारं परम्-एव अधिगन्तव्यम् इति एतत्, आप्नोति मुच्यते सर्व-संसार-बन्धनैः। तत् विष्णोः परम प्रकृष्टं पदं स्थानम्, सतत्त्वम् इति एतत्, यत् असौ आप्नोति विद्वान् ।।९(६३)।।

भाष्य-अनुवाद – परन्तु जिस विद्वान् व्यक्ति (रथी) को पहले विवेकवान् बुद्धि-रूपी सारथीवाला, नियंत्रित मनवाला, संयमित चित्तवाला होने के कारण पवित्र कहा गया है, वह इस संसार-गति रूपी मार्ग के पार तक चला जाता है और संसार के सारे बन्धनों से मुक्त हो जाता है। विष्णु (सर्वव्यापी ब्रह्म) का जो परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ स्थान है, उसे यह ज्ञानी व्यक्ति प्राप्त कर लेता है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

अतः प्रमादान्न परोऽस्ति मृत्यु-
र्विवेकिनो ब्रह्मविदः समाधौ।
समाहितः सिद्धिमुपैति सम्यक्
समाहितात्मा भव सावधानः ।।३२७।।

अन्वय – अतः विवेकिनः ब्रह्मविदः प्रमादात् परः मृत्युः न अस्ति। समाधौ समाहितः सम्यक् सिद्धिं उपैति। समाहितात्मा सावधानः भव।

अर्थ – अत: विचारशील ब्रह्मतत्त्व को जाननेवाले साधक के लिये प्रमाद (असावधानी) से बढ़कर दूसरी कोई मृत्यु नहीं है। समाधि में मन को एकाग्र करनेवाला समुचित सिद्धि प्राप्त करता है। इसलिये सावधानी के साथ चित्त को (ब्रह्म वस्तु में) एकाग्र करो।

ततः स्वरूपविभ्रंशो विभ्रष्टस्तु पतत्यधः।
पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोह ईक्ष्यते ।।
संकल्पं वर्जयेत्तस्मात्सर्वानर्थस्य कारणम् ।।३२८।।

अन्वय – ततः स्वरूप-विभ्रंशः तु विभ्रष्टः अधः पतति। पतितस्य नाशं विना पुनः आरोहः ईक्ष्यते न। तस्मात् सर्वानर्थस्य कारणं संकल्पं वर्जयेत्।

अर्थ – इस (प्रमाद करने) से व्यक्ति अपने आत्म-स्वरूप से विचलित हो जाता है और (देहात्म-बुद्धि बढ़ जाने से) नीचे की योनियों में पतित हो जाता है। ऐसे पतित जीव का नाश हुए बिना पुन: उन्नति देखने में नहीं आती। अत: सभी अनर्थों के कारण-रूपी संकल्प का त्याग करो।

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवलः।
यत्किञ्चित्पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजुःश्रुतिः।।३२९।।

अन्वय – यस्य जीवतः कैवल्यं सः च विदेहे केवलः। यत् किञ्चित् भेदं पश्यते, भयं यजुः श्रुतिः ब्रूते।

अर्थ – जिसे जीवित अवस्था में ही कैवल्य (जीवन्मुक्ति) प्राप्त हुई है, वह देहान्त की अवस्था में विदेह-मुक्ति हो जाता है। परन्तु जिसमें जरा भी भेदज्ञान रह जाता है, उसे भय बना रहता है – ऐसा यजुर्वेद* में कहा गया है।

* यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। (तैत्तिरीयोपनिषद्, २/७)

❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी विवेकानन्द की १५० वीं जयन्ती

बदलते परिवेश में बच्चों के मन में नैतिकता एवं जीवन-मूल्यों का बोध जगाने हेतु केन्द्र सरकार स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन का सहारा लेगी। २०१३ ई. में स्वामीजी के डेढ़ सौवें जन्मवर्ष के अवसर पर केन्द्र सरकार देश भर के स्कूलों में धूमधाम से कार्यक्रम आयोजित करेगी। पाठ्यक्रम में स्वामीजी से जुड़े संस्मरणों को स्थान देने के साथ-ही-साथ उनके नाम पर सांस्कृतिक कार्यक्रम तथा खेलकूद के आयोजनों के जरिये बच्चों के मन-मस्तिष्क में स्वामी विवेकानन्द के जीवन-मूल्यों को उकेरने का प्रयास किया जायेगा। मानव-संसाधन मंत्री श्री कपिल सिब्बल ने केन्द्रीय शिक्षण संस्थानों के लिये इस तरह के दिशा-निर्देश जारी किये हैं। मंत्रालय की ओर से केन्द्रीय विद्यालय संगठन, नवोदय विद्यालय समिति और सी.बी.एस.ई के तहत आनेवाले स्कूलों को सर्कुलर जारी किया जा रहा है।

ज्ञातव्य है कि केन्द्र सरकार ने स्वामीजी के डेढ़ सौवें जन्म-वर्ष को विशेष तरीके से मनाने के लिये केन्द्रीय वित्तमंत्री श्री प्रणव मुखर्जी की अध्यक्षता में एक इंप्लीमेंटेशन कमेटी बनायी है। २४ मार्च को इस कमेटी की तीसरी बैठक हुई थी। बैठक में सुझाव दिया गया था कि देश भर के स्कूलों को स्वामी विवेकानन्द की सार्ध शताब्दी के कार्यक्रमों से जोड़ा जाना चाहिये। इसी कड़ी में वर्कशाप, प्रदर्शनी तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अलावा शैक्षणिक क्रिया-कलापों में भी स्वामीजी से सम्बन्धित सामग्री को जगह दी जायेगी।

(दैनिक भास्कर, रायपुर १७ अप्रैल २०१२ पृ. १४)

श्रीरामकृष्ण की १७५वीं जयन्ती

रामकृष्ण मिशन, रामहरीपुर (पश्चिमी बंगाल) में श्रीरामकृष्ण की १७५ वीं जयन्ती मनायी जा रही है। आश्रम के सचिव स्वामी निरन्तरानन्द जी ने बताया कि इस उपलक्ष्य में आश्रम जरूरतमन्द छात्रों के बीच १७५ साइकिलों का वितरण किया गया। हमारा दूसरा संकल्प यह है कि हम १७५ गाँवों में जाकर सर्वेक्षण करेंगे कि वहाँ प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की क्या व्यवस्था है? यदि आवश्यक हुआ, तो हम यथायोग्य सहायता करेंगे। उन गाँवों में पुस्तक-वितरण करके सत्-साहित्य का प्रचार भी किया जायेगा। विभिन्न स्थानों पर जाकर भक्त-सम्मेलन और सभायें करके श्रीरामकृष्ण के विचारों पर चर्चा होगी।

लखौली में बालदिवस मनाया गया

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा संचालित गदाधर प्रकल्प और विवेकानन्द सेवा समिति, लखौली के संयुक्त तत्त्वावधान में १४ नवम्बर २०११ को बड़े व्यापक रूप से 'बालदिवस' मनाया गया। इस अवसर पर छत्तीसगढ़ के यशस्वी मुख्यमंत्री की पत्नी श्रीमती वीणा सिंह जी और प्रसिद्ध समाज-सेविका श्रीमती इला कल्चुरी ने विवेकानन्द विद्या-मन्दिर के १३५ बच्चों को स्वेटर वितरित किये।

लखौली ग्राम में प्रवेश करते ही विद्यालय बच्चे एवं कुछ लोगों ने पुष्पगुच्छ से अतिथियों का स्वागत किया। पटाखे फोड़कर प्रसन्नता की अभिव्यक्ति की गयी। सचमुच ही समस्त ग्रामवासी प्रसन्न थे। ग्रामीण लोकनृत्य से अतिथियों का स्वागत करते हुये विद्या-मन्दिर तक ले जाया गया।

मंच पर विराजित थीं श्रीमती वीणा सिंह, श्रीमती इला कल्चुरी और सारदा मठ, इन्दौर की अध्यक्ष प्रव्राजिका अमितप्राणा। मंच पर विभिन्न अधिकारियों, अध्यापक-अध्यापिकाओं, गाँव के सरपंच, मुखिया एवं ग्रामिणों द्वार पुष्पगुच्छ से अतिथियों का स्वागत किया गया। विद्यामंदिर के नन्हे-मुन्हें छात्रों ने पंथी-नृत्य किया, जिसमें पंथी-गीत के तर्ज पर रामकृष्ण वन्दना की गयी और छोटी-छोटी बच्चियों ने सुआ-नृत्य किया।

मुख्य अतिथि श्रीमती वीणा सिंह ने बच्चों को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की एवं उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना की तथा सब प्रकार की सहायता देने को वचन दिया। श्रीमती इला कल्चुरी ने बच्चों को सम्बोधित किया। परिव्राजिका अमितप्राणा ने कहा कि शहर के बच्चों को जितनी सुविधा मिल रही है, उतनी ही सुविधा हमारे ग्रामीण बच्चों को भी मिलनी चाहिये। सभी को अपने दायित्व का वहन करना चाहिये, तभी विकसित भारत का निर्माण हो सकेगा। सभा की अध्यक्षता स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने किया। कार्यक्रम में विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, प्रसिद्ध स्त्रीरोग विशेषज्ञ डॉ आशा जैन, रायपुर आश्रम के संन्यासीगण, अनेक अधिकारी और ग्राम के ही उच्च-विद्यालय के कई सौ छात्र-छात्रायें तथा भारी संख्या में ग्रामवासी उपस्थित थे। सभा का संचालन श्री घनश्याम तिवारी जी ने किया।